

श्रमण ŚRAMAᅇA

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXVI

No. I

January-March-2015



Dedicated to Late Shri B. N. Jain



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

Established : 1937

श्रमण

ŚRAMAṆA

(Since 1949)

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LXVI

No. I

January-March 2015

Dedicated to Late Shri B. N. Jain
Former Secretary, Parshwanath Vidyapeeth

Editor

Dr. Shriprakash Pandey

Associate Editors

Dr. Rahul Kumar Singh

Dr. Om Prakash Singh



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

(Established: 1937)

*(Recognized by Banaras Hindu University
as an External Research Centre)*

ADVISORY BOARD

Dr. Shugan C. Jain

New Delhi

Prof. Cromwell Crawford

Univ. of Hawaii

Prof. Anne Valley

Univ. of Ottawa, Canada

Prof. Peter Flugel

SOAS, London

Prof. Christopher Key Chapple

Univ. of Loyola, USA

Prof. Ramjee Singh

Bheekhampur, Bhagalpur

Prof. Sagarmal Jain

Prachya Vidyapeeth, Shajapur

Prof. K.C. Sogani

Chittaranjan Marg, Jaipur

Prof. D.N. Bhargava

Bani Park, Jaipur

Prof. Prakash C. Jain

JNU, Delhi

EDITORIAL BOARD

Prof. M.N.P. Tiwari

B.H.U., Varanasi

Prof. K. K. Jain

B.H.U., Varanasi

Dr. A.P. Singh, Ballia

Prof. Gary L. Francione

New York, USA

Prof. Viney Jain, Gurgaon

Dr. S. N. Pandey

PV, Varanasi

ISSN: 0972-1002

SUBSCRIPTION

Annual Membership

For Institutions : Rs. 500.00, \$ 50

For Individuals : Rs. 150.00, \$ 30

Life Membership

For Institutions : Rs. 5000.00, \$ 250

For Individuals : Rs. 2000.00, \$ 150

Per Issue Price : Rs. 50.00, \$ 10

Membership fee & articles can be sent in favour of

Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi-5

PUBLISHED BY

Shri Indrabhooti Barar, for Parshwanath Vidyapeeth, I. T. I. Road,
Karaundi, Varanasi 221005, Ph. 0542-2575890

Email: pvpvaranasi@gmail.com

NOTE: The facts and views expressed in the Journal are those of authors only. (पत्रिका में प्रकाशित तथ्य और विचार लेखक के अपने हैं।)

Printed by- Mahaveer Press, Bhelupur, Varanasi

सम्पादकीय

श्री भूपेन्द्रनाथजी जैन का महाप्रयाण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पूर्व मानद मन्त्री श्री भूपेन्द्रनाथजी जैन नहीं रहे। उनका दिनांक १९ जनवरी २०१५ को एक संक्षिप्त बीमारी के बाद निधन हो गया। वह पार्श्वनाथ विद्यापीठ के विकास की क्रोशशिला थे। वह अपने आप में एक संस्था थे। स्वभाव से अत्यन्त मिलनसार श्री भूपेन्द्रनाथजी जैन एक सफल उद्योगपति तथा समाजसेवी थे। वस्तुतः पार्श्वनाथ विद्यापीठ की सफलता और यशःकीर्ति की कुंजी प्रारम्भ से ही संस्था के संस्थापक और श्री भूपेन्द्रनाथजी जैन के पिता लाला श्री हरजसराय जैन और स्वयं इनके हाथों में रही। श्री भूपेन्द्र नाथजी ने अपने पूर्वजों द्वारा स्थापित एवं पोषित पार्श्वनाथ विद्यापीठ को अपनी निष्ठा और लगन के बल पर अन्तर्राष्ट्रीय फलक पर ला खड़ा किया। बहुमुखी प्रतिभा के धनी श्री भूपेन्द्रनाथजी का व्यक्तित्व अत्यन्त सादगी और विलक्षणता से भरा था। उनमें गहराई थी एक विद्वान की, चतुराई थी एक उद्यमी की, सादगी थी एक निःस्वार्थ समाजसेवी की, तथा शालीनता और संस्कार थे एक धर्मनिष्ठ, उत्साही और कर्तव्यपरायण व्यक्ति के। परिस्थितियों से समझौता करने की अपेक्षा वे सत्य के निकट अडिग भाव से खड़े रहने में विश्वास करते थे। असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण रखनेवाले श्री भूपेन्द्रनाथजी में मानवसेवा कूट-कूट कर भरी थी। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण आप देश की कई संस्थाओं में सम्मानित पदों पर थे। आप तन, मन, धन से संस्था के उत्तरोत्तर विकास हेतु सदा प्रयत्नशील रहे। आपके के नेतृत्व में पार्श्वनाथ विद्यापीठ का चहुँओर विकास हुआ। आज शैक्षिक जगत् और शोध के क्षेत्र में पार्श्वनाथ विद्यापीठ की जो असाम्प्रदायिक छवि है, उसके मूल में श्री भूपेन्द्रनाथजी की ही प्रेरणा है।

श्री भूपेन्द्रनाथजी का व्यक्तित्व इन्द्रधनुषी था। उनके व्यक्तित्व के सात

रंग थे- सरलता, मृदुता, दूरदर्शिता, निरभिमानता, विवेकशीलता, कार्य-कुशलता एवं दृढ़ संकल्प। उन्होंने जैन धर्म-दर्शन को सिद्धान्त के साथ-साथ व्यवहार में भी अपनाया था। करुणा और प्राणिमात्र के प्रति दया के वे प्रतिमूर्ति थे। उनका अचानक हम सबके बीच से चले जाना एक ऐसी अपूरणीय क्षति है जिसको कभी भी भरा नहीं जा सकता। आज विद्यापीठ का कुशल नेतृत्व श्री रोमेश चन्द्र बरार, श्री इन्द्रभूति बरड़ तथा श्री सुदेव बरार के योग्य, कर्मठ और सबल हाथों में है किन्तु श्री भूपेन्द्रनाथजी जैन की कमी हमेशा खलेगी। वर्तमान प्रबन्ध समिति श्री भूपेन्द्रनाथजी जैन द्वारा छोड़े अधूरे कार्य को पूर्ण करने हेतु कृतसंकल्प है। श्री भूपेन्द्रनाथजी जैन के अन्त के साथ ही पार्श्वनाथ विद्यापीठ के एक स्वर्णिम युग का भी अन्त हो गया। उनकी यादें सदा हमें सन्मार्ग पर अग्रसर होने के लिये प्रेरित करती रहेंगी।

श्रमण का यह अंक स्व. श्री भूपेन्द्रनाथजी जैन को सादर समर्पित है।

डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय

Contents

१. स्वप्न : एक मनोवैज्ञानिक चिन्तन 1-17
साध्वी प्रशंसाश्री 'मोक्षा'
 २. आध्यात्मिक विकास का रहस्य 18-26
(योगबिन्दु के परिप्रेक्ष्य में)
डॉ० राहुल कुमार सिंह
 ३. 'विशेषावश्यकभाष्य' में ज्ञान के सम्बन्ध में 27-44
'जाणइ' एवं 'पासइ' शब्दों का तात्पर्य
डॉ० पवन कुमार जैन
 ४. मध्य-प्रदेश में विदिशा से प्राप्त ऐतिहासिक 45-50
महत्त्व की जैन मूर्तियां
प्रो. मारुति नन्दन प्रसाद तिवारी
डॉ. शान्तिस्वरूप सिन्हा
 ५. लीलावार्ङ्कहा में अलङ्कार व्यवस्था 51-67
श्रीमती सुलेखा मोगरा
 6. World Peace and Pratikramaṇa 69-80
(Confession)
Dr. Samani Shashi Prajna
 7. Śrâvakâcâra and Pañcâcâra 81-102
H. Khushalchand
- स्थायी स्तम्भ**
- | | |
|-----------------------------|---------|
| पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार | 103-106 |
| जैन जगत् | 107-108 |
| साहित्य सत्कार | 109-110 |

Our Contributors

१. **साध्वी प्रशंसाश्री 'मोक्षा'**
शिष्या, गुरुणी प्रवर्तिनी केशरदेवीजी महाराज, श्रमणसंघ
२. **डॉ० राहुल कुमार सिंह**
रिसर्च-एसोसिएट, पार्श्वनाथ विद्यापीठ
३. **डॉ० पवन कुमार जैन**
शोध-अध्येता, श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ
जोधपुर, राजस्थान
४. **प्रो० मारुति नन्दन प्रसाद तिवारी**
प्रोफेसर इमरीटस, कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
डॉ. शान्तिस्वरूप सिन्हा
असिस्टेण्ट प्रोफेसर, दृश्यकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
५. **श्रीमती सुलेखा मोगरा**
शोधछात्रा, जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग, मो. सु. वि.वि. उदयपुर
६. **Dr. Samani Shashi Prajna**
Asst. Professor, Dept. of Jainology, Jain Vishva Bharati, Ladnun
७. **H. Kushal Chand**
Dept. of Jainology, University of Madras, Chennai

स्वप्न : एक मनोवैज्ञानिक चिन्तन

साध्वी प्रशंसाश्री 'मोक्षा'

चेतन-अचेतन तत्त्वों पर स्वप्नों का प्रभाव:

स्वप्न क्या हैं?

स्वप्न क्या हैं? ये क्यों आते हैं? इनका क्या परिणाम होता है? ये किस प्रकार के संकेत देते हैं? सभी को भिन्न-भिन्न स्वप्न क्यों आते हैं? ये काल्पनिक होते हैं, प्रतीकात्मक होते हैं, सांकेतिक होते हैं अथवा वास्तविक? इसकी सम्पूर्ण खोज अभी तक नहीं हो पाई है। इस पर अब तक आध्यात्मिक एवं मनोविज्ञान जगत् में जितनी भी खोजें हुई हैं तथा वैज्ञानिक-मनोवैज्ञानिक जितने रहस्यों को प्रकट किया गया है, वे अपूर्ण हैं फिर भी इनके आधार पर कई महत्वपूर्ण तथ्यों का पता चला है।

स्वप्न वास्तव में मन की क्रियाओं, उसकी वृत्तियों, भावनाओं एवं क्रिया प्रणाली का ही एक अंग है। यह मन की अभिव्यक्ति एवं उसकी वृत्तियों का प्रक्षेपण ही है। जीवन का संपूर्ण रहस्य मन में छिपा है, जिसकी अभिव्यक्ति ही जीवन की क्रियाओं का संचालन करती है। स्वप्न मन की ही एक अवस्था है, जिसके माध्यम से मन अपनी अभिव्यक्ति देता है।^१

स्वप्न का अर्थ एवं परिभाषा -

व्यक्ति निद्रावस्था में स्वप्न देखता है। नींद टूटने पर कुछ स्वप्न उसे याद रहते हैं और कुछ वह भूल भी जाता है। निद्रावस्था में चेतना निष्क्रिय हो जाती है, फिर स्वप्न आते हैं, क्योंकि चेतना के निष्क्रिय होने से उसकी लगाम ढीली पड़ जाती है, फलस्वरूप अचेतन मन क्रियाशील हो जाता है और स्वप्न के रूप में इच्छाओं की पूर्ति होने लगती है। जैसे ही हमारा चेतन मन सो जाता है, वैसे ही अचेतन मन सक्रिय होकर अपने सपनों के दल-बल सहित हमारे चेतना पटल पर आ धमकता है। व्यक्ति स्वप्नों में अपने आपको दुःख की हालत में देखता है, तो कभी आनंद की अवस्था में। स्वप्नों की विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। स्वप्नों का अर्थ जानने के लिये प्रायः सभी लोग उत्सुक रहते हैं। स्वप्नों

का सम्बन्ध व्यक्ति के अनुभवों और उसके व्यक्तित्व से होता है। भगवतीसूत्र की टीका में भी उल्लेख है कि सुषुप्तावस्था में किसी भी अर्थ के विकल्प का प्राणी को जो अनुभव होता है, स्वप्न कहलाता है। व्यक्ति को सुप्त जाग्रतावस्था में जिस किसी भी पदार्थ सम्बन्धी विकल्प का अनुभव होता है तथा चलचित्र के देखने जैसा प्रत्यक्ष होता है, उसे स्वप्नदर्शन कहते हैं। स्वप्न कौन देखता है? इसका उत्तर देते हुए महावीर ने कहा- “सुप्तजागरे सुविणं पासई।” अर्थात् जो सुप्त-जाग्रत होता है ऐसा वह व्यक्ति इंद्रियादि से उपरत हुआ और मनोमात्र व्यापारवाला बना हुआ ही स्वप्न देखता है।²

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने स्वप्न को परिभाषित करने के लिए अलग-अलग परिभाषायें दी हैं, जो निम्नलिखित हैं :

- 1) फिशर के अनुसार - “निद्रावस्था में मानसिक क्रियाएँ लगातार चलती रहती हैं और स्वप्न इन लगातार होने वाली मानसिक प्रक्रियाओं की एक अवस्था विशेष है।”
- 2) ब्राऊन ने स्वप्न को परिभाषित करते हुए लिखा है- “स्वप्न वे विभ्रम हैं, जिनका अनुभव हम सबको प्रति रात होता है और जब हम जागते हैं, तो उनका विभ्रमात्मक स्वरूप हमें स्पष्ट हो जाता है।”
- 3) फ्रायड के अनुसार - “स्वप्न वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा अचेतन मन की इच्छायें चेतन मन में बदले हुए रूप में प्रवेश करती हैं।”
- 4) जेम्स ड्रेवर ने कहा है- “स्वप्न विभ्रमात्मक अनुभवों की वह गाड़ी है, जिसमें कुछ मात्रा में सामंजस्य स्वभाव पाया जाता है, लेकिन बहुधा स्वप्न अस्पष्ट या निद्रावस्था में होते हैं अथवा समान परिस्थितियों में होते हैं।”
- 5) आइजनेक एवं उनके सहयोगियों के अनुसार - “स्वप्न निद्रावस्था के अनुभव हैं, जो व्यक्ति के कल्पनात्मक जीवन का एक आंशिक प्रकार है।”

- ६) सी० जी० युंग ने स्वप्न को परिभाषित करते हुए कहा है -
“स्वप्न व्यक्ति की केवल अतृप्त दमित इच्छाओं एवं अतीत से
ही सम्बन्धित नहीं होते वरन् भविष्य के भी द्योतक होते हैं।”^५

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर स्पष्ट होता है कि - स्वप्न दैनिक जीवन के अनुभवों के सम्बन्ध में हो सकते हैं तथा दमित इच्छाएँ भी अपना रूप बदलकर अचेतन मन में आ सकती हैं। स्वप्नों का विश्लेषण कर व्यक्ति की मानसिक स्थिति, विचार, व्यवहार और व्यक्तित्व का पता लगाया जा सकता है।

स्वप्नों की विशेषताएँ -

उपरोक्त विवेचन के आधार पर स्वप्नों की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

- १- स्वप्न सार्थक होते हैं।
- २- स्वप्न विभ्रमात्मक होते हैं।
- ३- स्वप्न प्रतीकात्मक होते हैं।
- ४- स्वप्नों में दमित इच्छापूर्ति का प्रयास रहता है।
- ५- स्वप्न अचेतन मन से सम्बन्धित होते हैं।
- ६- स्वप्न आत्मकेन्द्रित होते हैं।
- ७- स्वप्न दृश्यात्मक प्रतिमाओं से बने होते हैं।
- ८- स्वप्न भविष्य की घटनाओं का संकेत देते हैं।
- ९- स्वप्न जाग्रत अवस्था की पुनरावृत्ति मात्र हैं।^६

विस्तार भय से यहाँ मात्र स्वप्नों की विशेषताओं का उल्लेख ही किया गया है। विशेष “आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान” पुस्तक में देखें।

स्वप्न का मनोवैज्ञानिक महत्त्व

स्वप्न निद्रा में सहायक हैं। लोग कहते हैं कि स्वप्नों के कारण नींद नहीं आती। किन्तु फ्रायड ने सिद्ध किया है कि स्वप्न न हों तो नींद का बने

रहना ही असम्भव हो जाये। स्वप्न नींद को बनाये रखने में सहायक हैं। उदाहरणतः कभी-कभी नींद में हमको जोरों की प्यास लगती है, ऐसी दशा में यदि स्वप्न न हों, तो तत्काल नींद खुल जाती है, किन्तु हमें स्वप्न दिखाई देता है कि हम पानी पी रहे हैं, और कुछ समय तक हमारी नींद बनी रहती है। इस प्रकार मानसिक इच्छाएँ और प्रवृत्तियाँ भी नींद से अभिव्यक्त होती हैं और नींद को बनाये रखती हैं। उदाहरणतः परीक्षा के भय एवं चिन्ता से व्याप्त विद्यार्थी को परीक्षा सम्बन्धी स्वप्न दिखाई देते हैं; जिनके द्वारा भय एवं चिन्ता की अभिव्यक्ति होती रहती है। इस प्रकार स्वप्न में हमारी सुखद-दुःखद सभी इच्छाओं और कामनाओं की पूर्ति होती है और इससे मानसिक शान्ति मिलती है। यदि इनके निकलने का यह स्वाभाविक मार्ग न हो और ये इच्छाएँ और कामनायें किसी असामान्य व्यवहार के रूप में प्रकट हों तो व्यक्ति की अनुकूलता में अनेक बाधाएँ उपस्थित हो जायेंगी। स्वप्न इनके निकलने का सबसे अधिक सरल उपाय है। इसमें न तो दिवास्वप्नों के समान समय व्यर्थ होता है और न भूलों के समान हानि होती है और न असामान्य व्यवहार के समान अनुकूलता में बाधा होती है।

मनोविश्लेषण विज्ञान में स्वप्नों का विश्लेषण करके मनुष्य की अनेक असामान्य व्याधियों के कारणों का पता लगाया जाता है। इसमें व्यक्ति अपनी बुद्धि द्वारा स्वप्न की भिन्न-भिन्न वस्तुओं की साहचर्य द्वारा व्याख्या करता है। इससे उसके अचेतन मन की दशा ज्ञात होती है, जिससे मानसिक व्याधियों के कारणों का पता लगाने में सफलता मिलती है।^७

हम स्वप्न क्यों देखते हैं?

स्वप्न तो सभी देखते हैं, पर अधिकतर लोग यह जानने के लिए उत्सुक रहते हैं कि स्वप्न क्यों आते हैं? हम प्रतिदिन स्वप्न देखते हैं, अतः स्वप्न पर विचार करना अपने आपको जानने के लिए आवश्यक है। इसके द्वारा अचेतन मन की क्रियाओं का पता चलता है। मनुष्य के मन में स्वभावजन्य अनेक प्रकार की इच्छाएँ होती हैं। इनमें से अधिकांश इच्छाओं की पूर्ति हमारे जाग्रत अवस्था में हो जाती है और वे शान्त हो

जाती हैं, किन्तु जिन इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती, वे शान्त नहीं होती, बल्कि अनेक प्रकार की मानसिक उत्तेजनाओं का कारण बनती हैं। उत्तेजना मनुष्य के अचेतन मन में स्थिर रहती है और अवचेतन अवस्था (Sub-conscious State) में प्रकाशित होने की चेष्टा करती है, जिसके फलस्वरूप हम स्वप्न देखते हैं।

‘स्वप्नसार-समुच्चय’ में स्वप्न आने के प्रमुख नौ कारण :

‘स्वप्नसार-समुच्चय’ में वर्णित है कि- मनुष्यों को नौ कारणों से स्वप्न आते हैं- १. जानी हुई बात, २. देखी हुई बात, ३. सुनी हुई बात, ४. वात, पित्त और कफ विकार से, ५. मल-मूत्र की बाधा रोकने से, ६. चिन्ता करने से, ७. देव के विशिष्ट अनुष्ठान करने से ८. प्रबल (अधिक) पुण्योदय के योग से, ९. प्रबल (अधिक) पापोदय के कारण। प्रथम छः कारणों से आये हुए स्वप्नों का कोई शुभाशुभ फल नहीं मिलता। अन्तिम तीन कारणों से आये हुए स्वप्न शुभाशुभ फल देते हैं।

वायु विकार के कारण वृक्ष, पर्वत या टीलों पर चढ़ना, आकाश में उड़ना आदि स्वप्न आते हैं। पित्त के प्रकोप से मनुष्य सुवर्ण, रत्न, सूर्य, अग्नि, आदि अनेक प्रकार के स्वप्न देखता है। कफ की प्रबलता के कारण अश्व, चन्द्रमा, शुक्ल पक्ष, नदी, सरोवर, समुद्र इत्यादि लांघना देखता है, ये सब निरर्थक और निष्फल होते हैं।

‘स्वप्नसार-समुच्चय’ में स्वप्न आने के अन्य कारण :

जब हम किसी गन्दे और बदबूदार कमरे में सोते हैं, अथवा गन्दे कपड़ों को ओढ़कर सोते हैं तो अप्रिय स्वप्न देखते हैं। मुँह ढँककर सोने से बुरे स्वप्न आते हैं। हमारी साँस से निकली दुर्गन्ध फिर हमारे दिमाग में आ जाती है और बुरे स्वप्नों को पैदा करती है। शयन कक्ष में यदि बाहर का शोरगुल सुनाई देता है तो यह एक विशेष प्रकार के स्वप्नों का कारण बन जाता है। शयन कक्ष में यदि बाहर से आने वाली आवाज कर्णप्रिय, मन्त्रमुग्ध करने वाली हो तो सुन्दर स्वप्न आते हैं। यदि आवाज अरोचक और दुःखदायी हो, तो दुःखदायी स्वप्न आते हैं। इस प्रकार स्वप्न हमारी शारीरिक उत्तेजनाओं के कारण बनते हैं।

6 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 1, जनवरी-मार्च 2015

कभी-कभी स्वप्न में आने वाली बीमारी भी दिखाई देती है। यह बीमारी सम्भव है कि उसी रूप में न दिखाई दे, जिस रूप में वह आने वाली है। स्वप्न में कोई बड़ा राक्षस पीड़ा देता हुआ दिखाई दे या कोई भूत हमें सता रहा हो, ऐसे स्वप्न आने वाली बीमारियों के सूचक होते हैं। इन स्वप्नों का कारण शारीरिक उत्तेजनाएँ होती हैं।

हमारे अचेतन मन की शक्ति, चेतन मन की शक्तियों से कहीं अधिक हैं। हम मन की अचेतन अवस्था में शरीर के उन अनेक विकारों को जान लेते हैं, जिनके भविष्य में बीमारी के रूप में प्रगट होने की संभावना हो।^९

भारतीय मनोविज्ञान में स्वप्न के कारण :

भारतीय मनोवैज्ञानिकों के अनुसार स्वप्न के अनेक कारण हो सकते हैं-
१- वात, पित्त तथा कफ धातुओं के दोष के कारण स्वप्न उत्पन्न होते हैं। २- किसी तीव्र इच्छा के कारण स्वप्न में इच्छित वस्तु दिखलाई देती है। ३-धर्म और अधर्म के कारण भी कुछ स्वप्न दिखलाई देते हैं। ४- कुछ स्वप्नों से भविष्य की सूचना मिलती है। ये स्वप्न अदृष्ट के कारण होते हैं। आधुनिक फ्रायडवादी मनोविश्लेषण-शास्त्र की तरह ही भारतीय दर्शन में मन के अवचेतन भाग की कल्पना की गई है, जिसे संस्कार कहते हैं। सारे स्वप्न इसी संस्कार की देन हैं।^{१०}

क्या कहता है स्वप्न मनोविज्ञान?

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार स्वप्न के मनोदैहिक सिद्धान्त

स्वप्न सिद्धान्तों को मुख्यरूप से दो भागों में विभाजित किया गया है-

१- दैहिक सिद्धान्त, २- मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त

१- दैहिक सिद्धान्त

दैहिक सिद्धान्त वह सिद्धान्त है जो स्वप्न की व्याख्या दैहिक या शारीरिक प्रक्रियाओं के आधार पर करता है। यह सिद्धान्त यह मानता है कि स्वप्न बाह्य तथा आन्तरिक उत्तेजकों के प्रभाव से ही उत्पन्न होते

हैं। शयन करने पर शारीरिक मुद्रा भी उत्तेजक के रूप में आ सकती है, जैसे कष्टदायक मुद्रा में सोना, सोते समय हाथ-पैर फैलाकर रखना आदि। सार्जेण्ट ने भी कहा है - “स्वप्नद्रष्टा उत्तेजकों को ग्रहण करता है, परन्तु उसका सोया मन उसके अर्थ को स्पष्ट नहीं कर पाता है।” आगे उन्होंने बताया है कि यदि व्यक्ति रात्रि में बहुत अधिक खाकर सोता है और उसकी पाचन क्रिया में गड़बड़ी हो जाती है, तो उसके हृदय की गति भी तीव्र हो जाती और इस अवस्था में ऊँची जगह से गिरने या किसी भयंकर घटना का वह स्वप्न देखता है। रॉबर्ट ने भी स्वप्न को एक शारीरिक क्रिया के रूप में माना है। उनका कथन है कि जाग्रत जीवन के अपूर्ण विचार तथा ऐन्द्रिक प्रभाव ही स्वप्न उत्पन्न करते हैं। स्वप्नों की उपयोगिता के सम्बन्ध में रॉबर्ट का कथन है कि स्वप्न मनुष्य के जीवन को संतुलित बनाते हैं। जाग्रतावस्था में मस्तिष्क पर अपूर्ण विचारों तथा ऐन्द्रिक प्रभावों से जो बोझ एकत्र हो जाता है, वह स्वप्नावस्था में हल्का हो जाता है। इस प्रकार स्वप्न मस्तिष्क को ऐन्द्रिक प्रभावों के बोझ से बचाते हैं।

फ्रायड ने दैहिक सिद्धान्त की मान्यता को अस्वीकार कर स्वप्न के एक नवीन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने अपनी पुस्तक “स्वप्न विश्लेषण” में स्वप्नों की विशद व्याख्या प्रस्तुत की और बतलाया कि स्वप्न का सम्बन्ध मनुष्य की वृत्तियों के साथ होता है। उसने कहा कि “स्वप्न निरर्थक तथा अनुपयोगी नहीं होते, बल्कि सार्थक एवं उपयोगी होते हैं।” इसलिए उसने स्वप्न सिद्धान्त को इच्छापूर्ति का सिद्धान्त कहा है। फ्रायड ने कहा कि स्वप्न से व्यक्ति की अतृप्त अचेतन इच्छाएँ संतुष्ट होती हैं। स्वप्न के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसने कहा “स्वप्न हमारी निद्रावस्था की वह अचेतन मानसिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा हमारे अचेतन मन में दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति एवं संतुष्टि गुप्त रूप से होती है।”

स्वप्न की व्याख्या के लिए उसने मन के तीन पहलुओं—चेतन, अर्द्धचेतन तथा अचेतन पर विशेष जोर दिया है। उसके अनुसार, जाग्रतावस्था में अचेतन और अर्द्धचेतन के बीच आदर्श भावना प्रतिरोध का कार्य करती

रहती है। इसलिए अनैतिक, असामाजिक तथा अनुचित विचार एवं इच्छाएँ हमारी चेतना में नहीं आ पाते हैं और उनका दमन हो जाता है। वे दमित होकर अचेतन में सक्रिय और प्रबलरूप धारण करके चेतन में आने के लिए तत्पर रहते हैं और अक्सर पाकर वे अपना रूप बदलकर प्रकट हो जाते हैं। जब निद्रावस्था में प्रतिरोध की क्षमता शिथिल हो जाती है, तब बाहरी परिस्थितियों तथा आन्तरिक प्रतिरोधों के अनुशासनहीनता से दमित इच्छाएँ अपना रूप बदलकर स्वप्न में अपनी संतुष्टि करती हैं। इस प्रकार फ्रायड ने अपने स्वप्न सिद्धान्त में इच्छाओं की संतुष्टि तथा छद्म रूप पर विशेष बल दिया है। क्योंकि स्वप्न में व्यक्ति की अपनी ही अतृप्त इच्छाएँ प्रकट होती हैं, परंतु उन अचेतन इच्छाओं की अभिव्यक्ति स्वप्नों में वास्तविक न होकर गुप्त होती है। इसलिए व्यक्ति स्वप्न देखने के बाद स्वयं भी यह विश्वास नहीं कर पाता कि वे उसी की इच्छाएँ हैं।

युंग का स्वप्न सिद्धान्त

युंग के अनुसार जीने की इच्छा ही व्यक्ति की मौलिक इच्छा है। इस इच्छा की पूर्ति के लिए ही व्यक्ति क्रियाशील रहता है। जब तक इच्छा-पूर्ति में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती तब तक इसमें उन्नति देखी जाती है। किन्तु जब इस इच्छा शक्ति में रुकावट आ जाती है तो यह आगे बढ़ने के बदले पीछे की ओर मुड़ जाती है, जिसे प्रतिगमन कहते हैं। इस प्रतिगमन के कारण इच्छा शक्ति-चेतन से अचेतन में चली जाती है। स्वप्न में यही इच्छा-शक्ति अपना रूप बदलकर अभिव्यक्त होती है। युंग के अनुसार स्वप्न में किसी भी प्रकार की इच्छा-पूर्ति हो सकती है।

फ्रायड के समान युंग भी स्वप्नों पर अचेतन के प्रभाव को स्वीकार करता है, परन्तु अचेतन के सम्बन्ध में उसका विचार फ्रायड से नहीं मिलता है। युंग ने अचेतन के दो भाग किये हैं १. व्यक्तिगत अचेतन तथा २. जातीय या सामूहिक अचेतन। युंग का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत अचेतन भिन्न-भिन्न होता है परन्तु सामूहिक अचेतन पूरी मानव जाति में एक समान पाया जाता है। वह व्यक्तिगत अचेतन को अचेतन का ऊपरी भाग मानता है और सामूहिक अचेतन को इसके बाद की सतह मानता है। व्यक्तिगत अचेतन का विकास जन्म के बाद होता

है, लेकिन सामूहिक अचेतन व्यक्ति के जन्म के साथ आता है। व्यक्तिगत अचेतन में व्यक्ति की अधिकतर दमित इच्छाएँ रहती हैं और जातीय या सामूहिक अचेतन में संस्कार के रूप में पूर्वजों की इच्छाएँ तथा अनुभव आते रहते हैं। अतः जातीय अचेतन में संचित ये संस्कार प्रायः स्वप्नों के रूप में प्रकट होते हैं। युंग ने बताया है कि स्वप्न का सम्बन्ध वर्तमान तथा भविष्य में होने वाली घटनाओं से भी रहता है और चेतावनी के रूप में भी होता है।

एडलर का स्वप्न सिद्धान्त

एडलर ने बताया है कि स्वप्न में मानसिक संघर्ष एवं दमन का हाथ रहता है। एडलर के अनुसार- “स्वप्न में उन समस्याओं के समाधान की चेष्टा की जाती है, जो आधिपत्य की भावना और हीन-भावना के संघर्ष से उत्पन्न होती हैं।” एक ओर हम श्रेष्ठ तथा महान बनना चाहते हैं, दूसरी ओर हम हीन भाव के कारण इन दोनों पहलुओं में सामंजस्य पैदा करने की चेष्टा करते हैं। एडलर कहता है कि स्वप्नों में व्यक्ति की जीवन-शैली की अभिव्यक्ति होती है तथा स्वप्न व्यक्ति की जीवन-शैली तथा उसकी वर्तमान समस्या के बीच एक सेतु बनाने का प्रयास है। एडलर ने स्वप्नों का सम्बन्ध वर्तमान तथा भविष्य दोनों से माना है। स्वप्नों में एडलर अपने भावी जीवन के कार्यों का पूर्वाभ्यास करता है। उसके अनुसार स्वप्न में व्यक्ति ऐसे कार्यों को होते पाता है, जिनका सम्बन्ध उसकी समस्याओं से रहता है और जिसके कारण वह अपने किसी प्रकार के हीन-भाव को दूर कर अपना आधिपत्य स्थापित करने में समर्थ हो सकता है।

फ्रायड, युंग और एडलर तीनों के सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए हम एक ऐसे स्वप्न का विश्लेषण करेंगे जो स्वप्न एक नवयुवक का है, जो स्नातक था, परतु नौकरी के लिए लाख कोशिश करने पर भी वह बेकार बैठा था। एक रात उसने एक स्वप्न देखा - “मैं अपनी माँ और बहन के साथ सीढ़ियों पर चढ़ रहा हूँ जैसे ही हम लोग चढ़ते-चढ़ते ऊपर पहुँचे हमें पता चला कि मेरी बहन को शीघ्र बच्चा होने वाला है।”

फ्रायड के अनुसार इस स्वप्न की व्याख्या इस प्रकार है -

इस स्वप्न में बचपन में दमित कामेच्छा उत्पन्न होती है। सीढ़ी चढ़ना यौन संभोग का प्रतीक है। माँ और बहन का साथ होना बाल्यकाल की काम वृत्ति का प्रतीक है। छत पर पहुँचने पर बच्चे का जन्म होना यौन-संभोग का प्रतिफल है।

युंग ने इस स्वप्न को समझने के लिए स्वतंत्र साहचर्य की विधि का सहारा लिया। उसने इस विधि के आधार पर निष्कर्ष निकाला कि यह स्वप्न उस युवक की वर्तमान परिस्थिति तथा भावी जीवन की झलक को अभिव्यक्त करता है। माँ कर्तव्यहीनता का बोधक है एवं बहन सच्चे प्रेम का द्योतक है। सीढ़ी पर चढ़ना भविष्य में उन्नति करने का प्रतीक है तथा बच्चे का होना उस युवक के भावी जीवन के सुखमय पहलू का द्योतक है।

एडलर के अनुसार “सीढ़ियों पर चढ़ना अपनी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने का बोधक है। माँ और बहन का साथ में होना युवक में आत्म-निर्भरता के अभाव का बोधक है अर्थात् वह दूसरों के बिना अपना कार्य सफलतापूर्वक नहीं कर सकता”।

निष्कर्ष: तीनों मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की धारणाओं, संघटकों तथा व्याख्याओं में अन्तर है, किन्तु एकान्तरूप से कोई भी सिद्धान्त स्वप्न के सभी पक्षों की समुचित व्याख्या करने में समर्थ नहीं है। इस संदर्भ में किस्कर का कथन अधिक युक्तिसंगत लगता है कि ये सभी सिद्धांत एक-दूसरे के पूरक हैं।

जैन साहित्य में स्वप्न के प्रकार

भगवतीसूत्र की टीका में स्वप्नों के पाँच प्रकार बताये गये हैं।

१. यथातथ्य
२. प्रतानस्वप्न
३. चिन्तास्वप्न
४. तद्विपरीत स्वप्न और
५. अव्यक्तदर्शन स्वप्न।

१. यथातथ्य स्वप्न - व्यक्ति इस स्वप्न में जिस प्रकार के पदार्थ को देखता है वैसा ही होना यथातथ्य स्वप्न है। जैसे किसी पुरुष ने स्वप्न देखा कि किसी ने उसे हाथ में स्वर्णमुद्रा दी है और वह पुरुष जाग जाता

है और उसका स्वप्न सत्य हो जाता है, वह सचमुच अपने हाथ में स्वर्ण मुद्रा देखता है। ऐसे स्वप्न को यथातथ्य स्वप्न कहते हैं।

२. प्रतानस्वप्न - ये विस्तार वाले स्वप्न होते हैं, जो दीर्घकाल तक स्थिर रहते हैं। ये सत्य भी होते हैं और असत्य भी होते हैं।

३. चिन्तास्वप्न - जाग्रत अवस्था में जिस विषय का चिन्तन किया गया हो निद्रा (सुषुप्तावस्था) में उसी का दिखाई देना चिन्तास्वप्न है।

४. तद्विपरीत स्वप्न - स्वप्न में जैसी वस्तु दिखाई दी जाग्रतावस्था में उससे विपरीत वस्तु की प्राप्ति होना तद्विपरीत स्वप्न है।

५. अव्यक्तदर्शन - जिसमें स्वप्नार्थ का अस्पष्ट अनुभव होता है, ऐसा स्वप्न अव्यक्त अस्पष्ट-दर्शन स्वप्न कहलाता है। अर्थात् स्वप्नावस्था में दृष्ट पदार्थ का जाग्रत अवस्था में भूल जाना अव्यक्तदर्शन स्वप्न कहलाता है।^{१२}

स्वप्नों के प्रकार

कल्पसूत्र, भगवतीसूत्र तथा स्वप्नसारसमुच्चय में स्वप्नों के असंख्य प्रकार बताये गये हैं, किन्तु ७२ प्रकार के स्वप्नों^{१३} का मुख्य रूप से उल्लेख मिलता है। उनमें से ४२ प्रकार के स्वप्न जघन्य फल, ३० स्वप्न मध्यम फल तथा १४ स्वप्न सर्वोत्तम फल देने वाले होते हैं, जो विशिष्ट महापुरुषों (तीर्थकरों) की माताएँ देखती हैं। विशेष जानकारी के लिए देखें- 'स्वप्नसार-समुच्चय' पुस्तक की भूमिका तथा 'कल्पसूत्र'। विस्तार भय के कारण यहाँ केवल संक्षिप्त उल्लेख ही अपेक्षित है।

आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान में स्वप्नों के प्रकार -

स्वप्न व्यक्तिगत अनुभवों से संबन्धित होते हैं। ये आत्मगत और आत्मकेन्द्रित होते हैं। अतः स्वप्नों में विविधता एवं विचित्रता बहुत अधिक होती है। इसलिए स्वप्नों का वर्गीकरण सरल नहीं है। वे स्वप्न जो व्यक्तियों को अधिकतर दिखाई देते हैं उन स्वप्नों के मुख्य प्रकारों का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से है-

१. इच्छापूर्ति स्वप्न -

व्यक्ति बहुत से स्वप्न देखता है, जिनसे उसकी अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति होती है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि सभी प्रकार के स्वप्न किसी न किसी रूप में इच्छापूर्ति के साधन होते हैं। अतः जिन स्वप्नों से स्वप्नकर्ता की इच्छाओं की पूर्ति होती है, वे इच्छापूर्ति स्वप्न कहलाते हैं।

२. चिन्तास्वप्न

इन स्वप्नों के माध्यम से स्वप्नद्रष्टा की किसी न किसी चिन्ता की अभिव्यक्ति होती है, ऐसे स्वप्नों को चिन्तास्वप्न कहते हैं। ऐसे स्वप्नों को देखकर स्वप्नद्रष्टा पसीने-पसीने हो सकता है, उसकी नींद टूट सकती है तथा बैचेनी अनुभव कर सकता है।

३. प्रतिरोध स्वप्न -

इन स्वप्नों में व्यक्ति सामाजिक नियमों के विरुद्ध, अपने दुश्मनों के विरुद्ध अथवा किसी नियम या व्यक्ति का विरोध करते हुए स्वप्न देखता है, ऐसे स्वप्न प्रतिरोध स्वप्न कहलाते हैं।

४. दण्ड स्वप्न

ऐसे स्वप्न जिनमें व्यक्ति अपने आपको दण्ड या कष्ट पाता हुआ देखता है, वे दण्ड स्वप्न कहलाते हैं। इनमें स्वप्नद्रष्टा अपने आपको पिटता या दूसरों द्वारा परेशान होता हुआ देख सकता है।

५. भविष्य स्वप्न

इन स्वप्नों का सम्बन्ध स्वप्नद्रष्टा के अनुभवों से होता है। ऐसे स्वप्नों में व्यक्ति यह देख सकता है कि उसके घर मेहमान आने वाले हैं, बच्चा होने वाला है अथवा उसके व्यापार या नौकरी में तरक्की हो रही और वह बड़ा आदमी बनता जा रहा है। ऐसे स्वप्न भविष्य स्वप्न कहलाते हैं।

६. गति स्वप्न

जब स्वप्नों में व्यक्ति अपने आपको गति करता हुआ देखता है, तो ऐसे स्वप्न गति स्वप्न कहलाते हैं। ऐसे स्वप्नों में व्यक्ति अपने आपको खेलता, दौड़ता, भागता और तैरता हुआ देखता है।

७. लकवा मारने के स्वप्न

ऐसे स्वप्नों में व्यक्ति अपने सम्बन्ध में देखता है कि उसके किसी अंग विशेष अथवा संपूर्ण शरीर में लकवा मार गया है और वह हिलने-डुलने के काबिल नहीं है।

९. मृत व्यक्तियों के स्वप्न

इन स्वप्नों में व्यक्ति अपने आपको मरा हुआ देखता है या अपने किसी प्रियजन को मरा हुआ देखता है या मरे हुए व्यक्तियों को जीवित देखता है। उनसे बातें करता है और उनसे आशीर्वाद प्राप्त करता है।

१०. सामूहिक स्वप्न

ऐसे स्वप्न जो एक ही समय में समानरूप से कई व्यक्तियों को दिखाई देते हैं, सामूहिक स्वप्न कहलाते हैं। जब इन व्यक्तियों को किसी घटना या किसी व्यक्ति के बारे में समान अनुभव, समान अभिवृत्तियाँ और समान भावनाएँ आदि हों तो ऐसे स्वप्न दिखाई देते हैं। ऐसे स्वप्न दुर्लभ होते हैं।^{१४}

जैसे “त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित” में वर्णन आता है कि भगवान् ऋषभदेव को निराहार रहते हुए एक वर्ष व्यतीत हो गया और विचरण करते हुए भगवान् गजपुर (हस्तिनापुर) पधारे। उसी रात्रि को अर्द्धनिद्रित अवस्था में गजपुर के अधिपति बाहुबली के पौत्र तथा सोमप्रभ राजा के पुत्र श्रेयांस ने स्वप्न देखा कि सुमेरु पर्वत श्यामवर्ण का हो गया है और उसे मैंने अमृत-कलश से अभिषिक्त कर पुनः चमकाया। उसी रात्रि को नगरश्रेष्ठि सुबुद्धि ने स्वप्न देखा कि सूर्य की सहस्र किरणें स्व-स्थान से चलित हो रही थीं तथा श्रेयांस ने उन रश्मियों को पुनः सूर्य में संस्थापित कर दिया। राजा सोमप्रभ ने भी उसी दिन की पश्चिम रात्रि में स्वप्न देखा कि एक महान् पुरुष शत्रुओं से युद्ध कर रहा है। श्रेयांस ने उसे सहायता प्रदान की जिससे शत्रु का बल नष्ट हो गया। प्रातःकाल सभी स्वप्न पर चिंतन-मनन करने लगे। स्वप्न का फल निकला कि श्रेयांस को विशिष्ट लाभ की प्राप्ति होने वाली है। स्वप्न के फलस्वरूप एक वर्ष से निराहरी

तपस्वी भगवान् ऋषभदेव को श्रेयांस ने वैशाख शुक्ल तृतीया (अक्षयतृतीया) तिथि पर इक्षु रस का आहार दान दिया। भगवान् ने वर्षीतप का पारणा किया। 'अहोदानं अहोदानं', के घोष से गगन गुंजायमान हुआ। देवताओं ने पंचविध सुवृष्टि की। इस सामूहिक स्वप्न का बड़ा ही महत्त्व है। श्रेयांस को भगवान् के वर्षीतप के पारणे का बहुत बड़ा लाभ मिला। अतः इस प्रकार के स्वप्न सामूहिक स्वप्न होते हैं।^{१५}

भारतीय मनोविज्ञान में स्वप्न के प्रकार

आयुर्वेद ने सात प्रकार के स्वप्न बतलाये हैं द्रष्टा, श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित, कल्पित, भाविक तथा दोष। चाक्षुष और श्रोत अनुभव तद् इन्द्रियाँ तथा मन का अनुभव, मन ने जो अपेक्षा की है वह तथा मन ने जो कल्पना की है वह- दोनों ही स्वप्न के कारण होते हैं। भाविक अर्थात् भावी घटनाओं का वर्तमान कालिक ज्ञान देने वाला स्वप्न। ऐसे स्वप्न हो सकते हैं, इस बात को पाश्चात्य शास्त्रज्ञ भी मानने लगे हैं।^{१६}

स्वप्न फल किसे और कब मिलता है

जैन शास्त्रानुसार जो व्यक्ति स्थिरचित्त, शान्त, दान्त, जितेन्द्रिय, धर्म में रुचि रखनेवाला, धर्मानुरागी, प्रामाणिक, सत्यवादी, दयालु, श्रद्धालु और गृहस्थ के २१ उत्तम गुणों से युक्त हो उसे जो स्वप्न आता है, वह निरर्थक नहीं जाता। कर्मानुसार यथासमय प्रिय या अप्रिय फल शीघ्र मिलता है।

स्वप्नफल प्राप्ति के समय के सम्बन्ध में 'स्वप्नसार-समुच्चय' में बताया गया है कि १. यदि रात के पहले प्रहर में स्वप्न देखता है, तो उसका फल एक वर्ष में मिलता है। २. दूसरे प्रहर में देखे गये स्वप्न का फल छः महीने में मिलता है। ३. तीसरे प्रहर में स्वप्न देखा है तो एक महीने में उसका फल मिलता है। ४. रात्रि के चौथे प्रहर में स्वप्न देखे तो १५ दिन में। ५. रात्रि की अंतिम दो घड़ी में स्वप्न देखता है तो १० दिन में और सूर्य उदित होते-होते स्वप्न देखे तो उसका तत्काल फल मिलता है। ६. बुरा स्वप्न देखने पर सोये रहना चाहिए तथा उसे किसी के सामने नहीं कहना चाहिए। इससे बुरा फल नहीं मिलता है। ७. उत्तम स्वप्न

देखने पर शीघ्र जाग्रत हो जाना चाहिए तथा उसे गुरुजनों के सम्मुख कहना चाहिए। इससे शुभ फल की प्राप्ति होती है। शुभ स्वप्न मूर्ख व्यक्ति को कभी न सुनाएँ वरना वह स्वप्न का जैसा फल बताएगा वैसे ही अव्यवस्थित और अनिच्छित फल की प्राप्ति होगी। स्वप्न को उत्तम स्वप्नशास्त्री के सामने कहने से उत्तम फल की प्राप्ति होती है। अयोग्य को बताने से अच्छा है गौ के कान में कह देना या मन में ही रख लेना। यदि पहले अच्छा स्वप्न देखकर बाद में बुरा स्वप्न देखा है तो बुरे स्वप्न का ही फल मिलता है और ९. यदि पहले बुरा स्वप्न देखकर बाद में अच्छा स्वप्न देखता है, तो अच्छे स्वप्न का फल ही मिलता है। इस प्रकार स्वप्न हमारी चेतन-अचेतन शक्तियों पर इष्टकारी प्रभाव छोड़कर हमारी चेतना को प्रसन्न या आहत करते हैं।^{१७}

उपसंहार

इस प्रकार पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक फ्रायड एवं युंग ने स्वप्नों की जो व्याख्यायें दी हैं, वे एकांगी एवं अपूर्ण हैं। इनसे पूरे स्वप्न-विज्ञान को नहीं जाना जा सकता वरन् उसके एक पक्ष को ही जाना जा सकता है। वे संकीर्ण दृष्टि मात्र हैं क्योंकि एक फूल को देखकर मात्र यह कह देना कि इसमें इतनी पंखुड़ियाँ हैं, ऐसा रंग है, इसका पौधा इतना बड़ा होता है, उसकी उम्र इतनी है, इसमें सुगंध है, इससे इत्र बनाया जा सकता है, आदि तो इसे फूल की पूर्ण व्याख्या नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार फ्रायड भी अपनी एकांगी दृष्टि से यह नहीं जान पाये कि रोगी एवं स्वस्थ व्यक्ति के स्वप्नों में क्या अंतर होता है? महत्त्वाकांक्षी के स्वप्न किस प्रकार के होते हैं? कामुक व्यक्ति के स्वप्न किस प्रकार के होते हैं? सैनिक, व्यवसायी आदि के स्वप्न किस प्रकार के होते हैं? सुषुप्ति एवं समाधि की स्थिति में व्यक्ति किस प्रकार का अनुभव करता है? क्या स्वप्न भविष्य की सूचनाएँ भी देते हैं? या ये मन की कोरी कल्पना मात्र हैं या इनमें वास्तविकता भी है? आदि का अध्ययन फ्रायड नहीं कर पाये तथा इन्होंने मात्र इनको दमित इच्छाओं का परिणाम बता दिया। जबकि अध्यात्मवादियों ने स्वप्न का जितना सूक्ष्म एवं गहरा चिंतन

क्रिया है उस सीमा तक पाश्चात्य मनोविज्ञान अभी तक नहीं पहुँच पाया है। मन के गूढ़ रहस्यों को कुछ स्थूल प्रश्नों से नहीं जाना जा सकता।

फ्रायड एक मनोवैज्ञानिक थे तथा अध्यात्मविद्या से अनभिज्ञ थे। उनका सम्बन्ध मनोरोगियों तक ही सीमित था। उन्होंने ऐसे ही रोगियों के स्वप्नों का अध्ययन किया जो मानसिक रूप से रुग्ण थे। वे पूरे स्वप्न विज्ञान को नहीं जान सके जिसे कोई अध्यात्मवादी ही जान सकता है।

जिसे शरीर-रचना का पूर्ण ज्ञान है, उस शरीर, मन, बुद्धि आदि को स्वतन्त्र इकाई मान लेना ही सबसे बड़ा भ्रम है। आत्मा (चेतना) को संयुक्त करके इसके पूर्ण स्वरूप को जाना जा सकता है। जिस प्रकार भगवान् महावीर ने अनेकान्तवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है उसी प्रकार स्वप्नों के वास्तविक स्वरूप को अनेकान्तात्मक दृष्टि से ही समझा जा सकता है। एकांगी रूप से स्वप्न की व्याख्या सम्भव नहीं है।

संदर्भ :

१. दशोराद्ध नंदलाल, मन की अद्भुत शक्तियाँ, पृ० १२७-८
२. भगवतीसूत्र (द्वादशोभाग), टीकाकार, पू० घासीलालजी म० पृ० १९०-१, १९५
३. सुलेमान मोहम्मद - मनोरोग विज्ञान, पृ० ११८
४. वर्मा एवं श्रीवास्तव - आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, पृ० १७४-७५
५. मखीजा एवं मखीजा - असामान्य मनोविज्ञान, पृ० ४१
६. क) वर्मा एवं श्रीवास्तव - आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, पृ० १७५-६
ख) सुलेमान मोहम्मद - मनोरोग विज्ञान, पृ० ११८-२०
७. शर्मा रामनाथ, - सामान्य मनोविज्ञान की रूपरेखा, पृ० ८९-९०
८. अनुवादक - दुर्गाप्रसाद जैन - स्वप्नसार-समुच्चय (भूमिका पृ० १५)
९. पूर्वोक्त, स्वप्नसारसमुच्चय, पृ० १६-१७, २४
१०. विद्यालंकार जगदीश प्रसाद, - भारतीय मनोविज्ञान, पृ० १५८
११. सुलेमान मोहम्मद - मनोरोग विज्ञान पृ० १२४-२६
१२. भगवती, पूर्वोक्त, (द्वादशो भाग) पृ० १९१-९४

१३. (क) कल्पसूत्र - संपादक - महोपाध्याय विनयसागर, सू० ७१
(ख) भगवतीसूत्र - मधुकर मुनि, (भाग - ३) पृ० ८०-८१
(ग) स्वप्नसार-समुच्चय, पूर्वोक्त (भूमिका पृ० २५-६)
(घ) भगवतीसूत्र में स्वप्नचर्चा में ३० महास्वप्नों तथा ४२ सर्व स्वप्नों का उल्लेख किया गया है। तीर्थकरों की माताओं द्वारा देखे जाने वाले १४ स्वप्न ३० महास्वप्नों के ही अंतर्गत हैं। भगवतीसूत्र-मधुकर मुनि, भाग-३, पृ. ८१
१४. आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान, पूर्वोक्त, पृ० १७७
- १५ (क) ऋषभदेव - एक परिशीलन, आचार्य देवेन्द्र मुनि, पृ० १६७-८
(ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (प्रथम पर्वगत), श्री गणेश ललवानी, पृ० १४९-५२
१६. विद्यालंकार जगदीश प्रसाद, भारतीय मनोविज्ञान, पूर्वोक्त, पृ० १६०
१७. स्वप्नसार-समुच्चय, पूर्वोक्त पृ० २६-७

आध्यात्मिक विकास का रहस्य

(योगबिन्दु के परिप्रेक्ष्य में)

डॉ० राहुल कुमार सिंह

आचार जैनधर्म का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है जिसका द्विविध प्रयोजन दृष्टिगत होता है- १. आध्यात्मिक शुद्धि उत्पन्न करना एवं २. व्यक्ति को योग्य सामाजिक प्राणी बनाना। प्रथम प्रयोजन अनुशासनात्मक जीवन-यापन के माध्यम से अनादि कर्म-चक्र से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है, जब आत्मा पूर्णतया कर्मों से मुक्त हो जाती है तो यही आध्यात्मिक मुक्ति कही जाती है। द्वितीय प्रयोजन सभी प्राणियों के प्रति समानता का दृष्टिकोण विकसित करने के लिए प्रेरित करता है और यह एक व्यक्ति और उसकी संपत्ति के प्रति भी पवित्र दृष्टिकोण उत्पन्न करता है।

उपरोक्त सन्दर्भ में प्रो० रानाडे का एक कथन अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है^१- “जिस प्रकार बुद्धि संकल्प और भाव उच्चतम मनोवैज्ञानिक विकास में एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते उसी प्रकार तत्त्वमीमांसा, आचार और रहस्यवाद भी उच्चतम आध्यात्मिक विकास में एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। जैन धर्म में रहस्यवाद, आत्मानुभूति, आत्मदर्शन, आत्मसाक्षात्कार या आत्मलीनता की वचन-अगोचर स्थिति का ही अपरनाम है जिसे आचार्यों ने समाधि, योग, तत्त्वोपलब्धि, निर्विकल्प आत्मध्यान, शुद्धोपयोग आदि शब्दों से भी कहा है।”^२

जैन वाङ्मय आत्मिक अथवा आध्यात्मिक विकास के लिए निवृत्ति पर विशेष बल देता है और इसके लिए योग नितान्त अपेक्षित है। प्रारम्भ में एवं साधारणतया जैन परम्परा में मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति को योग कहा गया है, यह आस्रव रूप है। ध्यान, तप, समाधि, संवर आदि शब्द आत्मसाधना के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। आत्मसाधना के अर्थ में, जैन परम्परा में, ‘योग’ शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य हरिभद्र द्वारा किया गया है। योग को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा है कि ‘मोक्ष-प्राप्ति के लिए जो धर्म क्रिया अथवा विशुद्ध व्यापार किया जाता है, वह धर्म व्यापार योग है।’^३ मूलतः यह जीवन-शोधन का मार्ग है। यह

आत्मविकास का एक प्रमुख साधन है। इससे काम, क्रोध, मद, मोह इत्यादि विकृतियाँ नष्ट होती हैं और आत्मा की जो अनन्त शक्तियाँ आवृत्त हैं, वे अनावृत्त हो जाती हैं।

जैन शास्त्रों में आचार्य हरिभद्र के पूर्व आध्यात्मिक विकास क्रम का वर्णन चौदह गुणस्थान, चार ध्यान तथा बहिरात्मा आदि तीन अवस्थाओं के रूप में मिलता है। आचार्य हरिभद्र ही जैन परम्परा में इसका योग रूप से वर्णन करते हैं तथा इतर दर्शनों में वर्णित योग प्रक्रिया और उसकी विशेष परिभाषा के साथ जैन संकेतों की तुलना करते हैं। समन्वयवादी आचार्य हरिभद्र 'योगबिन्दु' के प्रारम्भ में कहते हैं-

मोक्षहेतुर्यतो योगो भिद्यते न ततः क्वचित्।

साध्याभेदात् तथा भावे तूक्तिभेदो न कारणम्।^४

अर्थात् योग मोक्ष का हेतु है, परम्पराओं की भिन्नता के अतिरिक्त मूलतः उसमें कोई भेद नहीं है। जब योग के साध्य या लक्ष्य में कोई भेद नहीं है, वह सबके लिए एक समान है, तब उक्तिभेद या विवेचन की भिन्नता वस्तुतः योग में किसी प्रकार का भेद नहीं ला सकती।

आध्यात्मिक विकास के मार्ग पर अग्रसर व्यक्ति को सर्वप्रथम आत्मोन्मुख होना पड़ता है। योगबिन्दु में वर्णित है कि भोग अर्थात् धन, यौवन आदि की प्राप्ति की आकांक्षा में आदमी क्लेश पाता रहता है। उसे वास्तविक सुख तभी मिलता है जब वह आत्मोन्मुख होता है। आत्मोन्मुख व्यक्ति शान्त होता है, उसे विशिष्ट गुण युक्त बुद्धि प्राप्त होती है।^५ वह व्यक्ति या साधक साधना के द्वारा योग्यता प्राप्त करके ईश्वर बन सकता है। आत्मा के प्रयत्न द्वारा आध्यात्मिक विकास करने के बाद उसे परमात्मा मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती है।^६

मुक्तो बुद्धोऽर्हन् वाऽपि यदैश्वर्येण समन्वितः॥

तदीश्वरः स एव स्यात् संज्ञाभेदोऽत्र केवलम्॥

20 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 1, जनवरी-मार्च 2015

आचार्य हरिभद्र ने योग-साधना करते समय सामाजिक धर्मों (दायित्वों) के आचरण पर बहुत बल दिया है। आध्यात्मिक मार्ग की प्रथम शर्त है सामाजिक धर्म तथा उसकी मर्यादाओं का पालन कर अनेक सद्गुणों को जीवन में आत्मसात करना। आध्यात्मिकता के नाम पर सामाजिक आचरण छूट न जायें इसलिए योग-साधना में प्रवेश के पूर्व की अवस्था का नाम उन्होंने पूर्वसेवा रखा है। जिसमें गुरु, माता-पिता, अपने सम्बन्धी, वृद्ध तथा अपने ऊपर आश्रितों- इन सभी की सेवा का विधान है।^७

पूर्वसेवा तु तन्त्रज्ञैर्गुरुदेवादिपूजनम्।
सदाचारस्तपो मुक्त्यद्वेषश्चेह प्रकीर्तिता।।
माता पिता कलाचार्य एतेषां ज्ञातयस्तथा।
वृद्धा धर्मोपदेष्टारो गुरुवर्गः सतां मतः।।

इस प्रकार आचार्य हरिभद्र ने आध्यात्मिकता तथा सामाजिकता दोनों के कर्तव्यों का उपदेश देकर निवृत्तिपरक जैन दर्शन को एक नया मोड़ दिया है।

आध्यात्मिक विकास के लिए उद्यत जीव के सन्दर्भ में 'योगबिन्दु' दो प्रकार के योगाधिकारियों की चर्चा करता है- प्रथम चरमावर्ती तथा द्वितीय अचरमावर्ती। चरमावर्ती योगी ही मोक्ष के अधिकारी हैं। वहाँ आध्यात्मिक विकास के पाँच भेदों अथवा योग साधना के विकास की क्रमिक पाँच भूमिकाओं- अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय इनका निर्देश प्राप्त होता है।^८ इसके सम्यक् पालन से कर्मक्षय होता है तथा मुक्ति होती है। इसके साथ सांख्य-योग परम्परा की तुलना करते हुए आचार्य ने कहा है कि इनमें से प्रथम चार सम्प्रज्ञात समाधि तथा अन्तिम एक असम्प्रज्ञात समाधि है।^९ इन पाँचों भेदों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जा रहा है-

१. अध्यात्म

योग्यतानुसार यथोचित धर्मप्रवृत्ति (तप, जप, पूजा, अर्चना, कायोत्सर्ग, आदि) में जो प्रवृत्त होता है उसे आत्मसंप्रेक्षण, आत्महितवृद्धि या

आत्मस्वरूप का बोध होता है।^{१०} क्योंकि साधक को सन्मार्ग की ओर गतिशील कराने वाला परमतत्त्व का यथार्थ ज्ञान दर्शाने वाला अध्यात्म ही एक मात्र उपाय है।^{११} अध्यात्म के बल से ही साधक को आत्मा और शरीर का अथवा जड़ या चेतन का महत्त्वपूर्ण भेदज्ञान प्राप्त होता है। इसी हेतु आचार्य ने सर्वप्रथम अध्यात्म का निर्देश किया है। वे 'योगबिन्दु' में उद्धृत करते हैं-

औचित्याद् वृनयुक्ताय-वचनात् तत्त्वचिन्ताम्।
मैत्र्यादिसारमत्यन्तमध्यात्मं तद्विदो विदुः॥^{१२}

अर्थात् उचित प्रवृत्ति से अणुव्रत-महाव्रत से युक्त होकर मैत्री आदि चार भावनापूर्वक शिष्टवचनानुसार तत्त्वचिंतन करना अध्यात्म है।

इस तत्त्वचिंतन रूप लक्षण में प्रयुक्त 'औचित्य', 'वृत्तसमवेतत्व', 'आगमानुसारित्व' और मैत्री आदि 'भावनासंयुक्तत्व' में चार विशेषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ये अध्यात्म के वास्तविक रहस्य को उजागर करते हैं। मैत्री आदि चार (मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा) भावनाओं से भावित होने वाला साधक पुरुष- १. मैत्री भाव से सुखी जीवों के प्रति होने वाली ईर्ष्या का त्याग करता है, २. करुणा से दीन-दुःखी जीवों के प्रति उपेक्षा नहीं करता है, ३. मुदिता से उसका पुण्यशाली जीवों पर से राग-द्वेष हट जाता है और ४. उपेक्षाभावना से वह पापी जीवों पर से राग-द्वेष दोनों को हटा लेता है। तात्पर्य कि इन उक्त चार भावनाओं के अनुशीलन से साधक-आत्मा में ईर्ष्या का नाश, दया का संचार और रागद्वेष की निवृत्ति संपन्न होती है। इस प्रकार अध्यात्म के स्वरूप को समझकर उसे आत्मसात करने पर पापों का नाश, वीर्य का उत्कर्ष, चित्त की प्रसन्नता, वस्तुतत्त्व का बोध और अनुभव का उदय होता है। इसका वास्तविक अर्थ है आत्मसाक्षात्कार। इसके अतिरिक्त 'योगबिन्दु' में ही यह जप, देवपूजा, पापनिवृत्ति और मैत्री इत्यादि के अर्थ में भी प्रयोग हुआ है।^{१३}

इसके अधिकारी की चर्चा के प्रसंग में 'योगबिन्दु' में वर्णित है "अन्तिम पुद्गल परावर्त में स्थित, मोहनीय कर्म के तीव्र उदय से रहित भिन्न ग्रन्थि

22 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 1, जनवरी-मार्च 2015

अर्थात् जिसकी मोहकर्म ग्रन्थि छूट गयी है, जो चरित्र के परिपालन में आगे हो, वही अध्यात्म का अधिकारी है।^{१५}

चरमे पुद्गलावर्ते यतो यः शुक्लपाक्षिकः

भिन्नग्रान्थिश्चारित्री च तस्यैवैतदुदाहृतम्॥

अतः यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि उचित प्रवृत्ति रूप अणुव्रत व महाव्रत से युक्त होकर मैत्री आदि भावनापूर्वक शास्त्रानुसार चिन्तन करना अध्यात्म है। इससे पापक्षय, वीर्योत्कर्ष और चित्तसमाधि आदि प्राप्त हो सकते हैं। इस अध्यात्म का पुनः-पुनः अभ्यास भावना है। इससे काम, क्रोध आदि अशुभ भावों की निवृत्ति और ज्ञानादि जैसे शुभ भावों की पुष्टि होती है।^{१६}

भावना : अध्यात्म के अनन्तर भावना का वर्णन प्राप्त होता है जिसका स्वरूप निर्वचन इस प्रकार है-

जिनोदितमिति त्वाहुर्भाविसारमदः पुनः।

संवेगगर्भमत्यन्तममृतं मुनिपुङ्गवा॥^{१६}

अर्थात् अध्यात्म का बार-बार अभ्यास करने से योग साधना में वृद्धि होती है, योग भावना का विकास होता है।

‘योगभेद द्वात्रिंशिका’ में भावना का लक्षण बताते हुए कहा गया है- प्राप्त हुए अध्यात्म योग का बुद्धिसंगत बार-बार अभ्यास करना, चिन्तन करना भावनायोग है।^{१७}

यह भावना योग अध्यात्म का दृढ़ संस्कार और ध्यान की पूर्व भूमिका है अर्थात् यह अध्यात्म और ध्यान के मध्य का सेतु है। जिस विषय का अनुचिन्तन बार-बार किया जाता है, अथवा जिस प्रवृत्ति का बार-बार अभ्यास किया जाता है उससे मन में उसके दृढ़ संस्कार जम जाते हैं, उस संस्कार या चिन्तन को भावना कहा जाता है। आगमों में भावना के लिए अनुप्रेक्षा (अणुवेक्खा) शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। अध्यात्म-योगी के लिए ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप और वैराग्य, ये पाँच विषय

भावना के हैं। इन विषयों की भावना करने से वैभाविक संस्कारों (कर्मजन्य उपाधियों) का विलय, अध्यात्मतत्त्व की स्थिरता और आत्मगुणों का उत्कर्ष होता है।

अन्य जैन ग्रन्थों में बारह भावनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है जिनके नाम निम्न हैं - अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म।

३. ध्यान : भावना करते-करते चित्त को सूक्ष्म उपयोगपूर्वक किसी एक प्रशस्त विषय पर एकाग्र करना ध्यान है। इससे चित्तस्थैर्य तथा भाव के कारणों का विच्छेद होता है। योगबिन्दुकार इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं -

शुभैकालम्बनं चित्तं ध्यानमाहुर्मनीषिणः।
स्थिर प्रदीप सदृशं सूक्ष्माभोग समन्वितम्।^{१८}

अर्थात् स्थिर दीपशिखा के समान ज्योतिर्मान किसी एक शुभ प्रतीक में आलम्बित और प्रशस्त सूक्ष्म बोध वाली चित्त की स्थिति को मनीषियों ने ध्यान कहा है। फलतः आत्मनियन्त्रण, मानसिक स्थिरता तथा अनुबन्धत्यवच्छेद अर्थात् जन्म-मरण से उन्मुक्त भावों का विकास होता है।^{१९}

इस स्थिति में ध्येय वस्तु विषयक एकाग्रता इतनी बढ़ जाती है कि साधक को उस समय ध्येय के अतिरिक्त अन्य का आंशिक विचार भी उद्भव नहीं होता। यह आत्मा को इसके वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित करने का प्रबलतम साधन है। आत्मस्वातन्त्र्य, परिणामों की निश्चितता और जन्म-जन्मान्तर के आरम्भक कर्मों का विच्छेद, इसके फल हैं। ध्यान के भेद के रूप में अन्य ग्रन्थों में आर्द्र, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान का उल्लेख प्राप्त होता है।

४. समता : अविद्या कल्पित इष्ट एवं अनिष्ट वस्तुओं के प्रति तटस्थता रखना समता है। इससे लब्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा सूक्ष्म कर्म का नाश होता है। 'योगबिन्दु' में वर्णित है 'अविद्याकल्पितेषूच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु।'

संज्ञानात् तद्व्युदासेन समता समतोच्यते।^{२०} अर्थात् पदार्थों में की जाने वाली इष्ट-अनिष्ट की कल्पना को केवल अविद्या का प्रभाव समझकर उनमें उपेक्षा धारण करना समता है। समता का भाव आने पर योगी चमत्कारिक शक्तियों का प्रयोग नहीं करता है। सूक्ष्म कर्मों का क्षय होने लगता है। इच्छा आदि का नाश होने लगता है।^{२१}

यहाँ ध्यातव्य है कि ध्यान और समता परस्पर सापेक्ष हैं। ध्यान के बिना समता की प्राप्ति नहीं हो सकती और समताभाव का प्रादुर्भाव हुए बिना ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि ध्यान में प्राप्त चित्त की एकाग्रता समता के अभाव में स्थिर नहीं रह सकती।

५. वृत्ति संक्षय : विजातीय द्रव्य से उत्पन्न चित्त की वृत्तियों का समूल नाश करना वृत्ति संक्षय है। इसकी सिद्धि से तत्क्षण केवलज्ञान और तदुपरान्त मुक्ति होती है। यह आध्यात्मिक विकास के क्रम में अन्तिम सोपान है। इसका स्वरूप बताते हुए कहा गया है-

अन्य संयोगवृत्तीनां यो निरोधस्तथा तथा।

अपुनर्भावरूपेण स तु तत्संक्षयो मतः।^{२२}

अर्थात् आत्मा में मन और शरीर के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली विकल्प रूप तथा वृत्तियों का अपुनर्भाव रूप से जो निरोध (आत्यन्तिक क्षय) होता है, वह वृत्ति संक्षय है।

जैन मान्यता में आत्मा स्वभाव से निस्तरंग सागर के समान निश्चल है। जिस प्रकार वायु के सम्पर्क से उसमें तरंगे उठती हैं उसी प्रकार आत्मा में भी मन और शरीर के संयोग से संकल्प-विकल्प तथा अनेक प्रकार की चेष्टा रूप वृत्तियाँ उठती रहती हैं। इनमें विकल्प रूप वृत्तियाँ मनोद्रव्य के संयोग से उत्पन्न होती हैं और चेष्टारूप वृत्तियाँ शरीर-सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं। इनका समूल नाश ही वृत्तिसंक्षय है। इस सन्दर्भ में आचार्य हरिभद्र एक दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार वृक्ष के तने को काटने पर भी पल्लव आदि पुनः आ जाते हैं किन्तु जड़ काटने पर नहीं आ पाते उसी तरह आत्मा का अन्य-संयोग-योग्यता का नाश करना चाहिए।^{२३}

यह वृत्तिसंक्षय भावनादि के अभ्यास के फल के रूप में वर्णित है जो आत्म-कर्म-संयोग की योग्यता को नष्ट करता है।^{२४}

वृत्तिसंक्षय आत्मा को कैवल्य प्राप्ति के समय तथा निर्वाण प्राप्ति के समय प्राप्त होता है। यद्यपि वृत्ति निरोध ध्यान आदि की अवस्था में भी होता है किन्तु वह आंशिक होता है; सम्पूर्ण वृत्तिसंक्षय इसी अवस्था में होता है।

महर्षि पतंजलि के संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात योग का अन्तर्भाव इन चार योगों में हो जाता है। अध्यात्म, भावना, ध्यान और समता इनमें संप्रज्ञात योग का अन्तर्भाव होता है और वृत्ति संक्षय में असंप्रज्ञातयोग का समावेश होता है।

इस प्रकार आध्यात्मिक विकास द्वारा साधक शनैः शनैः आत्मोत्क्रान्ति करता हुआ मोक्ष अथवा निर्वाण पद अथवा चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची :

१. *A Constructive Survey of Upanisadic Philosophy*, R.D. Ranade, Oriental Book Agency, 1926, p. 288
२. पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका, पद्मनन्दि, एकत्वसप्तति अधिकार, ६४
३. मोक्षवेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो। - योगविंशिका-१
४. योगबिन्दु, आचार्य हरिभद्र, ३
५. वही, १८७-९३
६. वही, ३०२ -
७. वही, १०९-१०
८. अध्यात्मं भावना ध्यानं, समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद्योगः, एष श्रेष्ठो यथोत्तम् ॥ वही, ३१
९. वही, ४१९-२१
१०. वही, ३८९
११. वही, ६८
१२. वही, ३५८

26 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 1, जनवरी-मार्च 2015

१३. वही, ३८१, ३९७
१४. वही, ७२
१५. वही, ३६१
१६. वही, १६०
१७. योगभेदद्वात्रिंशिका-९
१८. योगबिन्दु, ३६२
१९. वही, ३६३
२०. वही, ३६४
२१. वही, ३६५
२२. वही, ३६६
२३. वही, ४०८
२४. वही, ५०४

‘विशेषावश्यकभाष्य’ में ज्ञान के सम्बन्ध में ‘जाणइ’ एवं ‘पासइ’ शब्दों का तात्पर्य

डॉ० पवन कुमार जैन

भारतीय संस्कृति में जैनदर्शन का अनूठा स्थान है। सभी भारतीय दर्शनों ने अपनी मान्यताओं को पुष्ट करते हुए अन्य दर्शनों की मान्यताओं का खण्डन किया है। जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जिसमें स्याद्वाद के आधार पर सभी दर्शनों की मान्यताओं को एक अपेक्षा से सही मानते हुए उनके समन्वय का प्रयास किया गया है। जैनदर्शन में जीव-अजीव से सम्बन्धित सभी मान्यताओं का सूक्ष्मदृष्टि से विवेचन किया गया है, जो कि अन्य दर्शनों में उपलब्ध नहीं होता है। प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में किसी न किसी रूप में जीव की अंतिम अवस्था निर्वाण, मोक्ष अथवा मुक्ति को स्वीकार किया गया है एवं उसकी प्राप्ति हेतु विभिन्न उपायों का उल्लेख भी किया गया है। जैनदर्शन भी मोक्ष को स्वीकार करता है और उसको प्राप्त करने के लिए तीन मुख्य साधन प्रतिपादित करता है- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य। मोक्ष-प्राप्ति के कारणों में दर्शन (सम्यक् श्रद्धा) के बाद ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ज्ञान के बिना चारित्र्य (क्रिया) अंधा होता है। बिना चारित्र्य के ज्ञान लंगड़ा होता है जो मोक्ष तक नहीं ले जा सकता है। मोक्ष के इन तीन हेतुओं का एक साथ विस्तार से वर्णन ‘विशेषावश्यकभाष्य’ में प्राप्त होता है।

‘विशेषावश्यकभाष्य’ आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (सातवीं शती) की कृति है। जिनभद्रगणि ने ‘आवश्यकसूत्र’ पर आचार्य भद्रबाहु रचित ‘आवश्यक निर्युक्ति’ के विषय को आधार बनाते हुए निर्युक्ति में जो विषय छूट गया उसको स्पष्ट करते हुए ‘विशेषावश्यकभाष्य’ की रचना की है। ‘आवश्यकसूत्र’ के छह अध्ययनों में से सामायिक नामक प्रथम अध्ययन पर ही इस भाष्य की विषयवस्तु आधारित है। इस भाष्य में प्राकृत भाषा की ३६०३ गाथाएँ हैं।

‘विशेषावश्यकभाष्य’ में जैन आगमों में प्रतिपादित सभी महत्त्वपूर्ण विषयों का वर्णन किया गया है। इस भाष्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता

यह है कि इनमें जैनधर्म की मान्यताओं का वर्णन मात्र जैनदर्शन की दृष्टि से न करते हुए अन्य दर्शनों के साथ तुलना, खण्डन और समर्थन आदि करते हुए किया गया है। अतः दार्शनिक दृष्टिकोण से भी यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। यदि कोई सम्पूर्ण जैनागमों का अध्ययन नहीं कर सके तो भी यदि वह 'विशेषावश्यकभाष्य' का स्वाध्याय कर ले तो उसे जैनागमों में वर्णित सभी विषयों का परिज्ञान हो सकता है।

'विशेषावश्यकभाष्य' में अन्य विषयों के साथ ज्ञानवाद का भी विस्तार से वर्णन किया गया है एवं जिनभद्रगणि के बाद वाले सभी आचार्यों ने स्व-स्व ग्रंथों में ज्ञानवाद के वर्णन में और ज्ञानवाद की व्याख्या करने में 'विशेषावश्यकभाष्य' को ही आधार बनाया है। इसमें ज्ञानवाद का प्रतिपादन इतने विस्तृत और विपुल रूप में हुआ है कि इसे पढ़कर ज्ञानवाद के सम्बन्ध में अन्य किसी ग्रन्थ को पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती है। अतः आचार्य जिनभद्र ने 'विशेषावश्यकभाष्य' लिखकर जैनागमों के मंतव्यों को तर्क की कसौटी पर कसा है और इस काल के तार्किकों की जिज्ञासा को शांत किया है। उनकी युक्तियाँ और तर्क शैली इतनी अधिक व्यवस्थित है कि आठवीं शताब्दी में होने वाले महान् दार्शनिक हरिभद्र तथा बारहवीं शताब्दी में होने वाले आगमों के समर्थ टीकाकार मलयगिरि भी ज्ञान-चर्चा में आचार्य जिनभद्रगणि श्रमाश्रमण की ही युक्तियों का आश्रय लेते हैं। इतना ही नहीं, अपितु अठारहवीं शताब्दी में होने वाले नव्यन्याय के असाधारण विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी भी अपने जैनतर्कभाषा, अनेकान्तव्यवस्था, ज्ञानबिन्दु आदि ग्रन्थों में उनकी दलीलों को केवल नवीन भाषा में उपस्थित कर सन्तोष मानते हैं, उन ग्रन्थों में अपनी ओर से नवीन वृद्धि शायद ही की गई है। अतः हम कह सकते हैं कि पंचज्ञान के सम्बन्ध में 'विशेषावश्यकभाष्य' में जो कुछ कहा गया है, वही अन्यत्र उपलब्ध होता है और जो कुछ नहीं कहा गया, वह अन्यत्र भी प्राप्त नहीं होता है।

जैनदर्शन में पांच ज्ञान स्वीकार किये गये हैं, यथा आभिनिबोधिकज्ञान (मतिज्ञान), श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान।^२ इन पांच ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद में विभक्त किया गया है। प्रत्यक्ष

ज्ञान के दो भेद हैं- १. इन्द्रिय प्रत्यक्ष और २. नो-इन्द्रिय (सांख्यव्यवहारिक) प्रत्यक्ष। इन्द्रिय (सांख्यव्यवहारिक) प्रत्यक्ष के श्रोत्रेन्द्रियादि पांच और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष के अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान ये तीन भेद हैं। तत्त्वार्थसूत्र में इन्द्रिय एवं मन से होने वाले ज्ञान (मति, श्रुत) को परोक्ष और आत्मा से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।^३ जिनभद्रगणि ने भी पांच ज्ञानों को परोक्ष और प्रत्यक्ष में विभक्त किया है।^४

‘विशेषावश्यकभाष्य’ और ‘नंदीसूत्र’ आदि में मति आदि पांच ज्ञानों का विषय संपेक्ष में चार प्रकार का बताया गया है- द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।^५ इसी प्रकार का वर्णन ‘भगवतीसूत्र’^६ में भी है।

‘जाणइ’ एवं ‘पासइ’ की उत्पत्ति के संबंध में विविध मत

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से विषय के वर्णन के सन्दर्भ में ‘नंदीसूत्र’ में ‘जाणइ’ और ‘पासइ’ इन दो क्रियाओं का प्रयोग हुआ है। यहाँ ‘जाणइ’ अर्थ जानना और ‘पासइ’ का अर्थ देखना किया गया है।^७ विशेष रूप से इनका अर्थ करें तो ‘जाणइ’ का अर्थ होता है ज्ञान रूप अर्थात् वस्तु के विशेष स्वरूप को जानना और ‘पासइ’ का अर्थ होता है दर्शन रूप अर्थात् वस्तु के सामान्य स्वरूप को जानना। जैन दर्शन में पांच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन-कुल १२ उपयोगों का वर्णन उपलब्ध होता है। पांच ज्ञान के विषय का वर्णन करते हुए आगमकारों ने ‘जाणइ’ और ‘पासइ’ इन दो क्रियाओं का प्रयोग किया है। अवधिज्ञान और विभंगज्ञान से जानना, अवधिदर्शन से देखना तथा केवलज्ञान से जानना और केवलदर्शन से देखना यह तो सभी विद्वानों में निर्विवाद है। लेकिन मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और मनःपर्यवज्ञान के ‘जाणइ’ और ‘पासइ’ में मतान्तर मिलते हैं। अतः इनके सम्बन्ध में प्राप्त मतान्तरों की प्रस्तुत शोध-पत्र में समीक्षा की जा रही है।

मतिज्ञान की अपेक्षा ‘जाणइ’ एवं ‘पासइ’

‘नंदीसूत्र’ में वर्णित है- “तत्थ दव्वओ णं आभिणिबोहियणाणी आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं जाणइ, ण पासइ।” यहाँ यह जो मतिज्ञान का विषय बताया गया है उसको जिनभद्रगणि स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि

मतिज्ञानी द्रव्य की अपेक्षा से सामान्य प्रकार से जीव और पुद्गलों के गति आश्रय के कारणभूत धर्मास्तिकाय आदि सब द्रव्यों को जानता है, उनकी सब पर्यायों को नहीं जानता है, कुछ अंशों में विशेष रूप से भी जानता है, जैसा कि धर्मास्तिकाय गति-सहायक द्रव्य है। वह अमूर्त और लोकाकाशप्रमाण है। किन्तु धर्मास्तिकाय आदि को सर्वात्मना नहीं देखता। लेकिन उचित देश में अवस्थित घट आदि को देखता भी है। इसी प्रकार क्षेत्र से वह लोकालोक क्षेत्र, काल से अतीत-वर्तमान-अनागत काल तथा भाव से उदय आदि पांच भावों को जानता है।^८ उपर्युक्त वर्णन में मतिज्ञानी सर्व द्रव्य को जानते और देखते हैं, ऐसा उल्लेख किया गया है। किन्तु मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान होने से सूक्ष्म, दूरस्थ और व्यवहित विषय को नहीं जानता है, तो फिर कैसे सभी द्रव्यों को जानता है? यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है। अतः इस समस्या के समाधान के लिए यहाँ आदेश शब्द का प्रयोग किया गया है। आदेश वस्तु को जानने का एक प्रकार है। अतः यहाँ सर्व शब्द आदेश की अपेक्षा से प्रयुक्त हुआ है। आदेश सामान्य और विशेष दोनों प्रकार से प्रयुक्त होता है।^९ मतिज्ञानी सूत्रादेश के द्वारा सर्व द्रव्यों धर्मास्तिकाय आदि को जानता है, यह कथन द्रव्य सामान्य की अपेक्षा से है। सूक्ष्म परिणत द्रव्यों को वह नहीं जानता, यह कथन विशेष आदेश की अपेक्षा से है। मतिज्ञानी सर्व द्रव्य से नहीं देखता है, यह वर्णन भी सापेक्ष है। नंदीचूर्णिकार इस सम्बन्ध में कहते हैं कि यह निषेध सामान्य आदेश से है, विशेष आदेश की अपेक्षा से वह देखता है, जैसे चक्षु से रूप को देखता है।^{१०}

‘भगवतीसूत्र’ में “द्ववओ णं अभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्व दव्वाइं जाणइ, पासइ।।^{११}” जबकि ‘नंदीसूत्र’ के पाठ में “आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं जाणइ, ण पासइ” आता है। अर्थात् ‘भगवती’ में ‘पासइ’ और ‘नंदीसूत्र’ में ‘ण पासइ’ क्रिया का प्रयोग किया है। ‘भगवतीसूत्र’ के टीकाकार अभयदेवसूरि^{१२} इसको वाचनान्तर मानते हुए इस विसंगति का समन्वय निम्न प्रकार से करते हैं कि यद्यपि आदेश पद का श्रुत अर्थ करके श्रुतज्ञान से उपलब्ध धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का मतिज्ञानी अवाय और धारणा की अपेक्षा से जानता और अवग्रह तथा ईहा की

अपेक्षा से देखता है, क्योंकि अवाय और धारणा ज्ञान के बोधक हैं और अवग्रह व ईहा ये दोनों दर्शन के बोधक हैं। अभयदेवसूरि ने यह उल्लेख जिनभद्रगणि का आश्रय लेकर ही किया है^{१३}। अतः ‘पासइ’ क्रिया का प्रयोग सही है। लेकिन ‘नंदीसूत्र’ के टीकाकारों के अनुसार ‘ण पासइ’ के प्रयोग का कारण यह है कि यहाँ प्रयुक्त ओदश का अर्थ दो प्रकार का है- सामान्य और विशेष। उनमें द्रव्यजाति अथवा सामान्य प्रकार से धर्मास्तिकाय आदि सब द्रव्यों को मतिज्ञानी जानता है और धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकाय का देश इसे विशेष रूप से भी जानता है, किन्तु धर्मास्तिकाय आदि सब द्रव्यों को नहीं देखता है, केवल योग्य देश में स्थित शब्द रूप आदि को देखता है,^{१४} इसलिए दोनों क्रियाओं का प्रयोग सही है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार उक्त समस्या का समन्वय नंदी के व्याख्या ग्रन्थों के आधार पर इस प्रकार किया जा सकता है कि मतिज्ञानी सब द्रव्यों को देखता है। विधेय अपेक्षा यह है कि वह चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन के विषयभूत सब द्रव्यों को देखता है। निषेध की अपेक्षा यह है कि मतिज्ञान धर्मास्तिकाय आदि अमूर्त द्रव्यों को नहीं देखता इसलिए वह सब द्रव्यों को नहीं देखता है।^{१५}

श्रुतज्ञान की अपेक्षा ‘जाणइ’ ‘पासइ’

श्रुतज्ञान के विषय रूप द्रव्य के सम्बन्ध में भी ‘जाणइ’ और ‘पासइ’ क्रिया का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार क्षेत्र, काल और भाव के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। श्रुतज्ञान के विषय में प्रयुक्त ‘जाणइ’ और ‘पासइ’ क्रिया का प्रयोग विचारणीय है, क्योंकि आगम-ग्रंथों के ज्ञान को जान सकते हैं, लेकिन देख नहीं सकते हैं।^{१६} अतः ‘पासइ’ क्रिया के सम्बन्ध में यहाँ विरोधाभास उत्पन्न होता है। श्रुतज्ञानी इन्द्रियों के विषय से दूर रहे हुए मेरुपर्वत आदि को श्रुतज्ञान के आधार से चित्रित करता है, लेकिन वह अदृष्ट को चित्रित नहीं कर सकता है।^{१७}

श्रुतज्ञान सब द्रव्यों का देखता है, इसको स्पष्ट करते हुए अभयदेव कहते हैं कि जो अभिलाष्य द्रव्य है, उन सब द्रव्यों को जानता है। जानने के दो साधन हैं- श्रुतानुवर्ती मानसज्ञान और अचक्षुदर्शन। सम्पूर्ण दशपूर्व

या उससे अधिक पूर्वज्ञानी सर्व अभिलाष्य द्रव्यों को जानता है- देखता है, सम्पूर्ण दशपूर्व से निम्न ज्ञानी के लिए भजना है। श्रुतज्ञानी के द्वारा अनुत्तरविमान आदि अदृष्ट देवलोकों आदि का कथन किया जाता है। सर्वथा अदृष्ट का कथन नहीं किया जा सकता है। यद्यपि अभिलाष्य भावों का अनन्तवां भाग श्रुतनिबद्ध है फिर भी सामान्य रूप से सब अभिलाष्य भाव श्रुतज्ञान से ज्ञेय हैं, ऐसा कहा जाता है। इस अपेक्षा से श्रुतज्ञानी सब भावों को जानता-देखता है।^{१८}

विशेषावश्यकभाष्य का मत : भाष्यकार और टीकाकार के अनुसार जो श्रुतज्ञानी उपयोगवान् होता है वह पंचास्तिकाय रूप सभी द्रव्य, लोकालोक रूप सभी क्षेत्र, अतीतादि रूप सभी काल और औदारिक आदि सभी भावों को स्पष्ट रूप से यथार्थतः जानता है, परन्तु सामान्यग्राही दर्शन से नहीं देखता है। क्योंकि जैसे मनःपर्यवज्ञान स्पष्टार्थ का ग्राहक होने से उसका दर्शन नहीं माना गया है, वैसे ही श्रुतज्ञान से भी स्पष्ट (विशेषरूप) ज्ञान होता है, इसलिए उसका भी दर्शन नहीं होता है। 'नंदीसूत्र' में जो द्रव्यादि की अपेक्षा से श्रुतज्ञान का विषय बताया गया है, उन द्रव्यादि की अपेक्षा से श्रुतज्ञानी जानता है, लेकिन देखता नहीं है अर्थात् टीकाकार ने भाष्यकार के अनुसार 'नंदीसूत्र' में 'जाणइ' 'पासइ' के स्थान पर 'जाणइ' न 'पासइ' (जानता है लेकिन देखता नहीं है) प्रयोग होना चाहिए, ऐसा कथन किया है।

भाष्यकार ने इस सम्बन्ध में मतान्तर देते हुए कहा कि कुछ आचार्य ऐसा मानते हैं कि श्रुतज्ञानी ज्ञान से जानते हैं, और अचक्षुदर्शन से देखते हैं। क्योंकि श्रुतज्ञानी को मतिज्ञान अवश्य होता है और मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में चक्षु तथा अचक्षु यह दो दर्शन बताये गये हैं। मतिज्ञानी चक्षुदर्शन से और श्रुतज्ञानी अचक्षुदर्शन से देखते हैं। लेकिन ऐसा मानना अयोग्य है।^{१९} क्योंकि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में इन्द्रिय मनोनिमित्त समान होने से अचक्षुदर्शन भी दोनों में समान है। तो फिर अचक्षुदर्शन से मतिज्ञानी क्यों नहीं देखता है अर्थात् दोनों अलग-अलग दर्शन से क्यों देखते हैं? इसलिए ऐसा कहना कदाग्रह है। वास्तव में तो यही सही है कि श्रुतज्ञानी जानते हैं लेकिन देखते नहीं हैं।^{२०}

आगम का मत : प्रज्ञापनासूत्र पद ३० में पश्यत्ता का वर्णन है। वहाँ पश्यत्ता का अर्थ किया है देखने का भाव। उपयोग के समान पश्यत्ता के भी दो भेद होते हैं- साकार और अनाकार। दोनों में अन्तर बताते हुए आचार्य अभयदेवसूरि कहते हैं कि यों तो पश्यत्ता एक उपयोग विशेष ही है, किन्तु उपयोग और पश्यत्ता में थोड़ा सा अन्तर है। जिस बोध (ज्ञान) में त्रैकालिक (दीर्घकालिक) अवबोध हो वह पश्यत्ता है तथा जिस बोध (ज्ञान) में वर्तमान कालिक बोध हो, वह उपयोग है। इस प्रकार उपयोग और पश्यत्ता में अन्तर होने से पश्यत्ता को उपयोग से अलग बताया गया है।

साकार पश्यत्ता के छह भेद हैं- श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंग ज्ञान। अनाकार पश्यत्ता के तीन भेद हैं- चक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। साकार पश्यत्ता के भेदों में मतिज्ञान और मति अज्ञान, इन दोनों को नहीं लिया है, क्योंकि आभिनिबोधिक ज्ञान उसे कहते हैं जो अवग्रहादि रूप हो, इन्द्रिय तथा मन के निमित्त से उत्पन्न हो तथा वर्तमान कालिक वस्तु का ग्राहक हो। इस दृष्टि से मतिज्ञान और मत्यज्ञान दोनों में साकार पश्यत्ता नहीं है जबकि श्रुतज्ञान आदि ज्ञान-अज्ञान अतीत और अनागत विषय के ग्राहक होने से साकार पश्यत्ता शब्द के वाच्य होते हैं। श्रुतज्ञान त्रिकाल विषयक होता है। अवधिज्ञान भी असंख्यात अतीत और अनागत कालिक उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों को जानने के कारण त्रिकाल विषयक है। मनःपर्यवज्ञान भी पल्योपम के असंख्यात भाग प्रमाण अतीत अनागत काल का परिच्छेदक होने से त्रिकाल विषयक है। केवलज्ञान की त्रिकालविषयता तो प्रसिद्ध ही है। श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान भी त्रिकाल विषयक होते हैं, क्योंकि ये दोनों यथायोग्य अतीत और अनागत भावों के परिच्छेदक होते हैं।

अनाकार पश्यत्ता में अचक्षुदर्शन का समावेश इसलिए नहीं किया गया है कि पश्यत्ता एक प्रकार का प्रकृष्ट ईक्षण (देखना) है, जो चक्षुरिन्द्रिय से ही संभव है, अन्य दूसरी इन्द्रियों से नहीं। क्योंकि अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा चक्षुरिन्द्रिय का उपयोग अल्पकालिक और द्रुततर होता है, यही पश्यत्ता की प्रकृष्टता में कारण है, अतः अनाकार पश्यत्ता का लक्षण है-

34 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 1, जनवरी-मार्च 2015

जिसमें विशिष्ट परिस्फुट रूप देखा जाए। यह लक्षण चक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन में ही घटित हो सकता है। वस्तुतः प्राचीन व्याख्याकारों के अनुसार पश्यत्ता और उपयोग के भेदों में अन्तर ही इनकी व्याख्या को ध्वनित कर देते हैं।^{२१}

उपर्युक्त पश्यत्ता के वर्णन में श्रुतज्ञान को पश्यत्ता के रूप में ग्रहण किया गया है। इस अपेक्षा से श्रुतज्ञानी भी जानता और देखता है, वह श्रुतज्ञान के उपयोग से नहीं वरन् श्रुतज्ञान की पश्यत्ता से जानता और देखता है, ऐसा कह सकते हैं।^{२२} इसलिए यहाँ 'पासइ' क्रिया का प्रयोग सही है।

'आवश्यकचूर्णि' में कहा है कि श्रुतज्ञानी अदृष्ट द्वीपसमुद्रों और देवकुरु-उत्तकुरु के भवनों की आकृतियों (संस्थानों) का इस रूप में आलेखन करता है कि मानों उन्हें साक्षात् देखा हो। अतः श्रुतज्ञानी जानता है, देखता है- यह आलापक विपरीत नहीं है।^{२३}

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार पश्यति का अर्थ चक्षु से देखना अथवा साक्षात्कार करना नहीं है। यहाँ पासइ का प्रयोग पश्यत्ता के अर्थ में है। इसका तात्पर्य है, दीर्घकालिक उपयोग। श्रुतज्ञान का सम्बन्ध मन से है। मानसिक ज्ञान दीर्घकालिक अथवा त्रैकालिक होता है, इसलिए यहाँ 'पासइ' का प्रयोग संगत है।^{२४}

मनःपर्यवज्ञान की अपेक्षा 'जाणइ' एवं 'पासइ'

मनःपर्यवज्ञान से जानना तो हो जाता है, लेकिन देखने रूप दर्शन नहीं होता है और सूत्रकार ने मनःपर्यवज्ञान के साथ 'जाणइ' और 'पासइ' इन दोनों क्रियाओं का प्रयोग किया है, तो मनःपर्यवज्ञान का दर्शन भी होना चाहिए। अतः यहाँ प्रयुक्त 'पासइ' क्रिया के सम्बन्ध में 'विशेषावश्यकभाष्य' में विभिन्न मतान्तर प्राप्त होते हैं, उन्हीं की यहाँ पर समीक्षा की जा रही है।

प्रश्न - जैसे अवधिज्ञानी, अवधिज्ञान से जानते हैं और अवधिदर्शन से देखते हैं? उसी प्रकार मनःपर्यवज्ञानी क्या मनःपर्यवज्ञान से जानते हैं और मनःपर्यवदर्शन से देखते हैं?

उत्तर - नहीं, क्योंकि मनःपर्यवज्ञान ही होता है, दर्शन नहीं होता, क्योंकि छद्मस्थ जीवों का उपयोग तथा स्वभाव मन की पर्यायों की विशेषताओं को जानने की ओर ही लगता है, मन की पर्यायों के अस्तित्व मात्र को जानने की ओर नहीं लगता। अतएव मनःपर्यवज्ञान ही होता है, दर्शन नहीं होता। क्योंकि मनःपर्यवज्ञान विशिष्ट क्षयोपशम के कारण उत्पन्न होता है। इसलिए वस्तु के विशेष स्वरूप को जानता है, सामान्य स्वरूप को नहीं। अतः यह ज्ञानरूप ही होता है, दर्शन रूप नहीं। यह भाष्यकार जिनभद्रगणि और टीकाकार मलधारी हेमचन्द्र का मत है।^{२५} साथ ही भाष्यकार ने ‘विशेषावश्यकभाष्य’ में इस सम्बन्ध में बिना नामोल्लेख के कुछ आचार्यों के मत दिये हैं और उनका खण्डन भी किया है, जो निम्न प्रकार है-

१. मनःपर्यवज्ञानी अचक्षुदर्शन से देखता है :

प्रश्न - ‘विशेषावश्यकभाष्य’ गाथा ८१४ में ‘द्वमणोपज्जाए जाणइ पासइ’ में ‘पासइ’ शब्द दिया है, अतः मनःपर्यवज्ञान का दर्शन कहने में क्या बाधा है?

उत्तर - कुछ आचार्यों के मत से श्रुतज्ञानी भी अचक्षुदर्शन से देखते हैं। इसका उल्लेख ‘विशेषावश्यकभाष्य’ की गाथा ५५३ में किया गया है कि “उपयोग युक्त श्रुतज्ञानी सभी द्रव्यादि को अचक्षुदर्शन से देखते हैं।” (भाष्यकार ने गाथा ५५४ में इस मत का खण्डन किया है।^{२६}) इसी प्रकार मनःपर्यवज्ञानी भी अचक्षुदर्शन से देखता है। जैसे कि घट-पटादि अर्थ का चिंतन करने वाले व्यक्ति के मनोद्रव्य को मनःपर्यवज्ञानी प्रत्यक्ष से जानता है और उसी द्रव्य को मन से (मन सम्बन्धी) अचक्षुदर्शन से विचार करता है। इसलिए मनःपर्यवज्ञानी, मनःपर्यवज्ञान से जानता है और अचक्षुदर्शन से देखता है। इसी अपेक्षा से देखता है, ऐसा कहा है।

प्रश्न - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं। इसीलिए श्रुतज्ञानी परोक्ष से पदार्थ को जानता है। इसी प्रकार अचक्षुदर्शन भी मतिज्ञान का भेद होने से परोक्ष से ही पदार्थ को जानता है। श्रुतज्ञान के विषयभूत मेरुपर्वत-देवलोक आदि परोक्ष पदार्थों में अचक्षुदर्शन होता है। अतः अचक्षुदर्शन के भी श्रुतज्ञान का आलम्बन होने से दोनों समान विषय

वाले हैं। लेकिन अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान के भेद होते हैं। इसलिए मनःपर्यवज्ञान प्रत्यक्ष को विषय करता है। लेकिन उपर्युक्त प्रसंग में परोक्ष अर्थ का विषय करने वाले अचक्षुदर्शन की प्रत्यक्ष अर्थ का विषय करने वाले मनःपर्यवज्ञान में किस प्रकार से प्रवृत्ति होगी, क्योंकि दोनों का विषय भिन्न-भिन्न है?

उत्तर - यदि परोक्ष अर्थ में अचक्षुदर्शन की प्रवृत्ति मान सकते हैं, तो प्रत्यक्ष अर्थ में तो विशेष तरीके से माननी चाहिए, क्योंकि चक्षुदर्शन से जानने योग्य घट आदि रूप प्रत्यक्ष अर्थ उस (घटादि) सम्बन्धी अचक्षुदर्शन में विशेष अनुग्राहक (ग्रहण करने वाला) है। इस कारण यहाँ मनोद्रव्य रूप अर्थ को प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण करते हुए मनःपर्यवज्ञान प्रत्यक्ष से युक्त है और अचक्षुदर्शन तो परोक्ष अर्थ को ग्रहण करता है इसलिए उसमें (अचक्षुदर्शन) प्रत्यक्षपना नहीं होते हुए भी मनःपर्यवज्ञान का अनुग्राहक होता है।²⁰

प्रश्न - यदि ऐसा स्वीकार करेंगे तो मनःपर्यवज्ञान को प्रत्यक्ष मानने में विरोध आएगा।

उत्तर - जिस प्रकार अवधिज्ञान वाले चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन से परोक्ष अर्थ को प्रत्यक्ष देखते हुए उसके प्रत्यक्षपने में कोई विरोध नहीं आता। उसी प्रकार मनःपर्यवज्ञानी मनःपर्यवज्ञान से मनोद्रव्य की पर्यायों को साक्षात् रूप से जानते हैं और अचक्षुदर्शन से परोक्ष रूप से देखते हैं।

नदीहारिभद्रीय वृत्ति में भी ऐसा उल्लेख मिलता है। मनःपर्यवदर्शन स्वतंत्र रूप से नहीं बताया गया है, तब 'पश्यति' का प्रयोग क्यों? अचक्षुदर्शन नामक मनरूप नोइन्द्रिय के द्वारा यह दर्शन का विषय बनता है, इसलिए दर्शन सम्भव है। कोई व्यक्ति घट का चिंतन कर रहा है। मनःपर्यवज्ञानी मनोद्रव्यों को साक्षात् जानता है और मानस अचक्षुदर्शन से वह देखता है। इसलिए सूत्रपाठ में 'पासइ' का प्रयोग हुआ है। एक ही मनःपर्यवज्ञानी प्रमाता के मनःपर्यवज्ञान के बाद ही मानस अचक्षुदर्शन होता है। वह मनःपर्यवज्ञान से मनोद्रव्य को जानता है तथा मानस अचक्षुदर्शन से उन्हीं को देखता है। यह विशेष उपयोग की अपेक्षा से

जानता है, सामान्य अर्थोपयोग की अपेक्षा से देखता है।^{२८} लेकिन भाष्यकार ने इसका निषेध गाथा ८१५ में इस प्रकार किया है,

सो य किर अचक्खुदंसणेण पासइ जहा सुयत्राणी।

जुतं सुए परोक्खे, न उ पच्चक्खे मणोनाणे। ८१५।।

मनःपर्यवज्ञानी अवधिदर्शन से देखता है : कुछेक आचार्यों का ऐसा मानना है कि मनःपर्यवज्ञानी मनःपर्यवज्ञान से जानता है और अवधिदर्शन से देखता है। लेकिन यह उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि मनःपर्यवज्ञानी के अवधिदर्शन होता है या मनःपर्यवज्ञानी के नियम से अवधिज्ञान और अवधिदर्शन होता है, ऐसा उल्लेख आगमों में कहीं भी प्राप्त नहीं होता है। इसके विपरीत आगमों में उल्लेख प्राप्त होता है कि जीवों में अवधिज्ञान के बिना मति, श्रुत और मनःपर्यवज्ञान ये तीन ज्ञान भी हो सकते हैं। जैसे कि "हे भगवन् ! मनःपर्यवज्ञान लब्धि वाले जीव ज्ञानी होते हैं कि अज्ञानी? हे गौतम! वे ज्ञानी होते हैं, अज्ञानी नहीं होते हैं। उनमें से कुछेक तीन ज्ञान वाले होते हैं, तो कुछेक चार ज्ञान वाले होते हैं। जो तीन ज्ञान वाले होते हैं, उनके मति, श्रुत और मनःपर्यवज्ञान होते हैं और जो चार ज्ञान वाले होते हैं, उनके मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यवज्ञान होते हैं।^{२९} इस प्रमाण से मनःपर्यवज्ञानी के अवधिज्ञान और अवधिदर्शन नहीं है। इसलिए जो ऐसा कहते हैं कि मनःपर्यवज्ञानी अवधिदर्शन से देखता है, उनका कथन उचित नहीं है।

प्रश्न - यदि ऐसा मानना अयुक्त है तो उसकी जगह मनःपर्यवज्ञान का भी दर्शन मान लिया जाए, तब मनःपर्यवदर्शन से ही मनःपर्यवज्ञानी देखता है, ऐसा समाधान मिल जायेगा।

उत्तर - चक्षु आदि चार प्रकार के दर्शन के अलावा पांचवाँ मनःपर्यवदर्शन आगमों में निरूपित नहीं है। आगम में कहा है कि "कइविहे णं भंते ! दंसणे पण्णते? गोयमा ! चउव्विहे, तं जहा चक्खुदंसणे, अचक्खुदंसणे, ओहिदंसणे, केवलदंसणे"^{३०} अर्थात् हे भगवन् कितने प्रकार के दर्शन कहे गये हैं? हे गौतम! चार प्रकार के दर्शन कहे गये हैं- चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शना।" इस प्रकार से मनःपर्यवज्ञान के दर्शन का अभाव होने से मनःपर्यवज्ञानी मनःपर्यवदर्शन से देखता है, ऐसा कहना भी उचित नहीं है।

३. विभंगदर्शन की तरह मनःपर्यवदर्शन भी अवधिदर्शन है : कुछेक आचार्यों का मानना है कि जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के विभंगज्ञान होता है, उसके विभंगदर्शन भी होता है, जिसको अवधि दर्शन कहा जाता है। उसी प्रकार मनःपर्यवज्ञानी का मनःपर्यवदर्शन, अवधिदर्शन ही है अर्थात् मनःपर्यवदर्शन का दूसरा नाम अवधिदर्शन है। जैसे चार दर्शनों के अतिरिक्त पांचवाँ दर्शन विभंगदर्शन नहीं बता कर उसका समावेश अवधिदर्शन में कर लिया गया है वैसे ही मनःपर्यवदर्शन को भी अवधिदर्शन में समाहित कर लिया गया है और उसी से मनःपर्यवज्ञानी देखता है। लेकिन ऐसा जो कहते हैं उनका कहना भी आगम के विपरीत है। क्योंकि 'भगवतीसूत्र' शतक ८ उद्देशक (आशीविष नामक उद्देशक) में मनःपर्यवज्ञान में दो या तीन दर्शन कहे गये हैं। दो दर्शन हों तो चक्षु-अचक्षु तथा तीन दर्शन हों तो चक्षु-अचक्षु और अवधिदर्शन पाये जाते हैं क्योंकि जिसमें मति-श्रुत और मनःपर्यवज्ञान हो, उसके चक्षु-अचक्षु दो दर्शन होते हैं और जिसमें अवधि सहित चार ज्ञान हों, उसके अवधि सहित तीन दर्शन होते हैं। इसलिए मनःपर्यवज्ञान वाले के नियम से अवधिदर्शन होता है, ऐसा कहना आगम विरुद्ध है। यदि मनःपर्यवज्ञान वाले के अवधिदर्शन होता है, तो मति-श्रुत और मनःपर्यवज्ञान इन तीन ज्ञान वालों के भी निश्चय से तीन दर्शन होना चाहिए, न कि दो दर्शन। लेकिन इनमें दो ही दर्शन बताये गये हैं। जबकि विभंगज्ञानी के नियम से तीन दर्शन बताये गये हैं। इसलिए विभंगदर्शन की तरह मनःपर्यवदर्शन का अवधिदर्शन में समावेश हो गया है, ऐसा मानना गलत है।^{३१} साथ ही आगमों में जहाँ भी विभंगज्ञान के साथ दर्शन का वर्णन है वहाँ उसे अवधिदर्शन बताया गया है, न कि विभंगदर्शन। क्योंकि दर्शन तो सामान्य रूप होता है इसलिए इसमें दृष्टि (सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि) का फर्क नहीं पड़ता है। दृष्टि का फर्क ज्ञान में पड़ता है।

४. अवधिसहित मनःपर्यवज्ञान वाला जानता और देखता है, जबकि अवधिरहित मनःपर्यवज्ञान वाला सिर्फ जानता है : कुछेक आचार्यों का मानना है कि जो मनःपर्यवज्ञानी अवधिज्ञान सहित चार ज्ञान वाले होते हैं, वे मनःपर्यवज्ञान से जानते हैं और अवधिदर्शन से देखते हैं और जो मनःपर्यवज्ञानी अवधिज्ञान रहित तीन ज्ञान वाले

होते हैं, वे मनःपर्यवज्ञान से मात्र जानते हैं, लेकिन अवधिदर्शन नहीं होने से देखते नहीं हैं, इसलिए मनःपर्यवज्ञानी एक अपेक्षा अर्थात् संभव मात्र से ही जानते और देखते हैं। ऐसा 'नंदीसूत्र' की टीका में बताया गया है।^{३२} यदि ऐसा संभव होता तो आगमकार मनःपर्यव के साथ 'जाणइ', 'पासइ' अथवा 'जाणइ' इस प्रकार विकल्प रूप से इन दोनों क्रियाओं का प्रयोग करते, लेकिन ऐसा वर्णन प्राप्त नहीं होता है। जहाँ भी प्रयोग हुआ है वहाँ इन दोनों क्रियाओं का साथ में ही प्रयोग हुआ है। इसलिए यह मत भी उचित नहीं है।

५. मनःपर्यवज्ञान साकार उपयोग होने से उसमें दर्शन नहीं होता है : कतिपय आचार्यों का मानना है कि मनःपर्यवज्ञान का अतिविशिष्ट क्षयोपशम होने से वह साकार (ज्ञान रूप से ही या विशेष को ग्रहण करने वाला होने से) उपयोग रूप में ही उत्पन्न होता है, जिससे वह मात्र ज्ञान होने से जानता है, लेकिन अवधिज्ञान और केवलज्ञान की तरह इसका दर्शन नहीं होने से यह नहीं देखता है।

प्रश्न : तो मनःपर्यवज्ञानी देखता है, ऐसा कैसे कह सकते हैं?

उत्तर : मनःपर्यवज्ञानी प्रत्यक्ष होने से मनःपर्यवज्ञान से देखता है; क्योंकि प्रत्यक्ष होने से विशेष रूप से देखता है। ऊपर से (सामान्य रूप से) मनःपर्यवज्ञानी देखता है और साकार होने से जानता है। इसलिए दर्शन नहीं होने पर भी मनःपर्यवज्ञानी देखता और जानता है, ऐसा कह सकते हैं।

इस कथन को मूल टीकाकार^{३३} ने सही नहीं माना है। मनःपर्यवज्ञान साकार उपयोग रूप होने से उससे दर्शन नहीं होता है और प्रत्यक्ष होने से "जो वस्तु देखी जाय, वह दर्शन है।" इस प्रकार की जो वचन युक्ति कही है वह उचित नहीं है, क्योंकि यह ज्ञान साकार होने से इसमें दर्शन का निषेध किया गया है। फिर भी "जिसको देखा जाय वह दर्शन है" इस व्युत्पत्ति से दर्शन की प्राप्ति होती है। फिर भी "जानता है" इस पद से मनःपर्यवज्ञान का साकारपना ही सिद्ध होता है और "देखता है" यह शब्द दर्शन में रूढ़ होने से इसका अनाकारपना सिद्ध किया गया है। इस प्रकार परस्पर विरोध की प्राप्ति होने से यह अभिप्राय अयोग्य है।^{३४}

40 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 1, जनवरी-मार्च 2015

यही बात मलयगिरि भी कहते हैं कि “विशिष्टतर मनोद्रव्य के ज्ञान की अपेक्षा से ही सामान्य रूप मनोद्रव्य के ज्ञान को व्यवहार में दर्शन कहा गया है। वास्तव में वह भी ज्ञान ही है। क्योंकि सामान्य रूप होने पर भी वह प्रतिनियत मनोद्रव्य को ही देखता है। प्रतिनियत (विशेष) को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही होता है, दर्शन नहीं। इसलिए आगम में भी चार ही दर्शन बताये गये हैं, पांच नहीं, इसलिए मनः-पर्यवदर्शन नहीं होता है।”^{३५}

६. आगमानुसार मत : उपर्युक्त मत आगम के अनुसार नहीं होने से वे ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। ‘प्रज्ञापनासूत्र’ के तीसरे पश्यता (इसका वर्णन पूर्व में श्रुतज्ञान के साथ कर दिया गया है) पद में मनःपर्यवज्ञान को अच्छी प्रकार से देखने वाला होने से साकार उपयोग विषयक देखने रूप पश्यता कहा गया है। इससे मनःपर्यवज्ञानी ‘देखता है’ ऐसा कहते हैं, क्योंकि जब मनःपर्यवज्ञानी मनःपर्यवज्ञान में उपयोग लगाता है, तब साकार उपयोग ही होता है, अनाकार उपयोग नहीं। उस साकार उपयोग के ही यहाँ दो भेद किए गये हैं- सामान्य और विशेष। ये दोनों ही भेद ऋजुमति और विपुलमति के होते हैं। यहाँ सामान्य का अर्थ विशिष्ट साकार उपयोग और विशेष का अर्थ है विशिष्टतर साकार उपयोग। मनःपर्यवज्ञान से जानने और देखने की दोनों क्रियाएँ होती हैं, यही मत आगमानुसार है इसलिए निर्दोष है।^{३६}

ऋजुमति को दर्शनोपयोग और विपुलमति को ज्ञानोपयोग समझना भी भूल है। क्योंकि जिसे विपुलमतिज्ञान है, उसे ऋजुमति ज्ञान भी हो, ऐसा होना नितान्त असंभव है। क्योंकि इन दोनों के स्वामी एक नहीं, अपितु भिन्न-भिन्न होते हैं।

प्रश्न - यहाँ पर जो ऋजुमति को सामान्य अर्थ को ग्रहण करने वाला और विपुलमति को विशेषग्रहण करने वाला बताया गया है उससे तो जब ऋजुमति सामान्यग्राही है तब तो वह दर्शन रूप ही हुआ, क्योंकि सामान्य को ग्रहण करने वाला दर्शन होता है, तो फिर ऋजुमति को ज्ञान क्यों कहा?

उत्तर - यद्यपि ऋजुमति सामान्यग्राही है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि केवल सामान्यग्राही ही है अर्थात् दर्शन रूप है, ऐसा मानना उचित नहीं। क्योंकि यहाँ ज्ञान का अधिकार चल रहा है, इसलिए सामान्यग्राही कहने का इतना ही आशय है कि वह ऋजुमति विशेषों को तो जानता ही है, परन्तु विपुलमति जितने विशेषों को जानता है उतने विशेषों को ऋजुमति नहीं जानता अर्थात् विपुलमति, ऋजुमति से अल्पतर जानता और देखता है। इसलिए विपुलमति की अपेक्षा से ऋजुमति सामान्य अर्थात् अल्पविशेषता वाला ज्ञान है, ऐसा समझना चाहिए। इसको समझाने के लिए घड़े का दृष्टान्त दिया है, यही बात टीकाकार ने कही है- “यतः सामान्यरूपमपि मनोद्रव्याकारप्रतिनियितमेव पश्यति।^{३७}” यहाँ प्रतिनियत को देखा है, वह ज्ञानरूप है दर्शनरूप नहीं है, इसीलिए दर्शनोपयोग (चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन) चार प्रकार का बताया गया है। पांच प्रकार का नहीं, कारण कि मनःपर्यवदर्शन परमार्थतः (सिद्धान्त में) संभव नहीं है, क्योंकि ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी मनोद्रव्य से परिणमित मनोवर्गणा के अनंत स्कंधों को मनःपर्यवज्ञानावरण के क्षयोपशम की पटुता के कारण साक्षात् जानता-देखता है, परन्तु जीवों द्वारा चिन्तित घटादि रूप परिमाणों को अन्यथानुपपत्ति से जानता है। इसलिए यहाँ ‘पासइ’ (देखता है) का भी प्रयोग किया है।

आवश्यकवृत्ति में मलयगिरि कहते हैं कि मनःपर्यवज्ञान में क्षयोपशम की पटुता होती है, अतः मनोद्रव्य के पर्यायों को ही ग्रहण करता हुआ उत्पन्न होता है। पर्याय विशेष होते हैं। विशेष का ग्राहक ज्ञान है, इसलिए मनःपर्यवज्ञान ही होता है, मनःपर्यवदर्शन नहीं होता है।^{३८}

उपसंहार - उपर्युक्त चर्चा का सारांश यह है कि मतिज्ञान के संदर्भ में ‘नंदी’ और ‘भगवती’ में ‘पासइ’ क्रिया का विधि और निषेध के रूप में प्रयोग अपेक्षा विशेष से है। दोनों में सिद्धान्त रूप से कोई अन्तर नहीं है। अतः मतिज्ञानी ज्ञान से जानता है और चक्षु और अचक्षु दर्शन से देखता है। श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञान से जानता है और पश्यता से देखता है। मनःपर्यवज्ञानी विशेष (पर्यायग्राही होने से सामान्य को ग्रहण करना उसका विषय नहीं है, इसीलिये मनःपर्यवज्ञान का दर्शन नहीं बताया है। चार इन्द्रियां और मन से जो अवग्रह, ईहा आदि होते हैं, उनसे पहले

42 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 1, जनवरी-मार्च 2015

अचक्षुदर्शन माना गया है। चिंतन वाले के मन की अचक्षुदर्शन पर्यायों अव्यक्त होने से उनका मनःपर्यवज्ञान उन्हें ग्रहण नहीं होता है। व्यक्त मन को ही मनःपर्यवज्ञान ग्रहण करता है। दर्शन की पर्यायें अव्यक्त होने से मनःपर्यवज्ञानी उन्हें ग्रहण नहीं करता है। अतः मनःपर्यवज्ञान का दर्शन नहीं होता है। फिर भी मनःपर्यवज्ञानी मनःपर्यवज्ञान से जानता है और पश्यता से देखता भी है।

संदर्भ सूची

१. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। - तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १ सूत्र १
२. (अ) नाणं पंचविहं पण्णत्तं, तंजहा - आभिणिबोहियाणं, सुयनाणं, ओहिनाणं, मण-पज्जावनाणं, केवलनाणं। - युवाचार्य मधुकरमुनि, नंदीसूत्र, पृ० २४, राजप्रश्नीयसूत्र, सू० २४१, पृ० १६०, भगवती सूत्र, श० ८, उ० २
(ब) मतिश्रुतावधिमनः पर्यायकेवलानि ज्ञानम्।- तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ९
३. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ९, १०, ११, १२
४. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८८
५. (अ) तं समासओ चउच्चिहं पण्णत्तं, तं जहा - १ दव्वओ, २. खित्तओ, ३. कालओ, ४. भावओ। तत्थ दव्वओ णं आभिणिबोहियणाणी आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं जाणइ, ण पासइ। (ब) तत्थ दव्वओ णं सुयणाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जणइ पासइ।.....
(स) तत्थ दव्वओ णं उज्जुमई अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ पासइ, तं चेव विउलमई अब्भहियंतराए विउलतराए विसुद्धतराए वितिमिरतराए जाणइ पासइ। पारसमुनि, नंदीसूत्र पृ० २००, २७५, ८१ (द) विशेषावश्यकभाष्य गाथा ४०२ - ४०५, ५५३, ८१२-८१४
६. भगवतीसूत्र, शतक ८, उद्देशक २
७. (अ) तत्थ दव्वओ णं उज्जुमई अणंते अणंतपएसिए खंधे जाणइ पासइ, तं चेव विउलमई अब्भहियंतराए विउलतराए विसुद्धतराए वितिमिरतराए जाणइ पासइ। पारसमुनि, नंदीसूत्र, पृ० ८१
(ब) दव्वमणोजज्जाए, जाणइ पासइ य तग्गएणंते। तेणावासिए उण, जाणइ बज्जेअणुमाणेणं। - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८१४
८. तं पुण चउच्चिहं, नेयभेयओ तेण जं तदुवउत्तो। आदेसेणं सव्वदव्वाइं चउच्चिहं मुणइ॥

- ‘विशेषावश्यकभाष्य’ में ज्ञान के सम्बन्ध में ‘जाणइ’ एवं ‘पासइ’ ... : 43**
- आएसोति पागरो, ओहादेसेण सव्वदव्वाइं । धम्मत्थि आइयाइं जाणइ न उ सव्वभेएणं॥
- खेतं लोगलोगं कालं सव्वद्धमहव तिविहंति। पंचोदयाइ ए भावे जं नेयमेव इयं॥
आएसी ति व सुत्तं सुउवलद्धेसु तस्स मइणाणं। पसरइं तब्भावणया विणा वि सुत्तानुसारेणं॥ विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ४०२-४०५
९. नंदीचूर्णि पृ० ६८ हरिभद्रीयावृत्ति, पृ० ६८ मलयगिरि पृ० १८४-१८५
१०. ण पस्सइ पृ० ६८, हरिभद्रीयावृत्ति, पृ० ६८ मलगिरि पृ० १८४-१८५
११. भगवतीसूत्र, शतक ८, उद्देश्य २
१२. ‘दव्वओ णं ति’ द्रव्याश्रित्य आभिनिबोधिकज्ञानविषद्रव्यं वाऽऽश्रित्य यद् आभिनिबोधिकज्ञानं तत्र ‘आएसेणं’ ति आदेशः प्रकारः सामान्य-विशेषरूप-तत्र च आदेशेन, ओषतो द्रव्यमात्रतया, न तु तद्रतसर्वविशेषापेक्षयेति भाव अथवा ‘आदेशेन’ श्रुतपरिकर्मिततया ‘सर्वद्रव्याणि’ धर्मास्तिकायादीनि ‘जानाति’ अवाय धारणापेक्षयाऽवबुध्यते, ज्ञानस्यावाय धारणारूपत्वात् ‘पासइ’ ति पश्यति अवग्रहेहापक्षयाऽवबुध्यते, अवग्रहेहयोर्दर्शनत्वात्। अभयदेव सूरि, भगवती वृत्ति श. ८, उ २.
१३. नाणमवायधिईओ इंसणमिद्ध जहोग्गहेहाओ, विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ५३६
१४. आदेश प्रकारः, स च सामान्यतो विशेषतश्च तत्र द्रव्यजातिसामान्यादेशेन सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि जानाति, विशेषतोऽपि यथा धर्मास्तिकायो धर्मास्तिकायस्य देश इत्यादि न पश्यति सर्वान् धर्मास्तिकायादीन् शब्दादीस्तु योग्यदेशावस्थितान् पश्यत्यपीति। हरिभद्रसूरि नंदीवृत्ति, पृ० ५५, मलयगिरि नंदीवृत्ति पृ० १८४
१५. आचार्य महाप्रज्ञ, भगवई, भाग ३ पृ० ६२.
१६. तत्थ दव्वओ णं सुयणाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ। पारसमुनि, नंदीसूत्र पृ० २७५
१७. नंदीचूर्णि पृ० १२०
१८. अभयदेव सूरि, भगवतीवृत्ति, श० ८, उ. २ पृ० ३८१-३८२
श्री अखिल भा० सुधर्म, जैन संस्कृति रक्षक संघ, सिटी पुलिस के सामने जोधपुर (राज)
१९. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ५५३ टीका
२०. वही, ५५४ टीका
२१. युवाचार्य मधुकरमुनि, प्रज्ञापनासूत्र, भाग ३, पद ३०, पृ० १६३
२२. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ५५४ टीका

44 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 1, जनवरी-मार्च 2015

२३. आवश्यक चूर्णि, भाग १, पृ० ३५-३६
२४. आचार्य महाप्रज्ञ, नंदीसूत्र, पृ० १८९
२५. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८१४ की टीका का भावार्थ
२६. उवउत्तो सुयनाणी, सच्चं दव्वाई जाणइ जहत्थं। पासइ य केइ सो पुण, तमचक्खुद्दसणेणं ति।। तेसिमचक्खुद्दसणसाण्णाओ कहं न महनाणी। पासइ, पासइ व कहं सुयनाणी किंओ भेओ।। - विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ५५३-५५४
२७. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८१५-८१६ की टीका का भावार्थ
२८. नंदीसूत्रम्, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी ५, सन् १९६६, पृ० १२२
२९. युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवतीसूत्र, शतक ८ उ. २, पृ० २६९
३०. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८१७
३१. वही, गाथा ८१८-८१९
३२. वही, गाथा ८२० की टीका का भावार्थ
३३. अन्ये त्वाहुः साकारोपयोगान्तःपातित्यात्र पद्ददर्शनम्, दृश्यते चानेन प्रत्यक्षत्वादवधिवदिति। एतदपि न दर्शनम् दृश्यते चानेन विरुद्धमुभयधर्मान्वया-भावाद्वा न किंचिदिति।- विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्ति, गाथा ८१८, पृ० १५५
३४. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८२१ की टीका
३५. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ० १०९
३६. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ८२२
३७. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ० १०९
३८. मलयगिरि, आवश्यकवृत्ति, पृ० ८२

मध्य-प्रदेश में विदिशा से प्राप्त ऐतिहासिक महत्त्व की जैन मूर्तियां

प्रो. मारुति नन्दन प्रसाद तिवारी

डॉ. शान्तिस्वरूप सिन्हा

भारत में प्राचीन काल से धर्म और संस्कृति की तीन धाराएं प्रवाहित रही हैं- वैदिक-पौराणिक (जिसे भूलवश हिन्दू धर्म कह दिया जाता है), बौद्ध और जैन। जैन धर्म निःसन्देह बौद्ध धर्म से प्राचीन और भारतीय संस्कृति के मूल स्वर के अनुरूप उदार एवं परम्परा में विश्वास करने वाला धर्म रहा है। यह धर्म शासकों के साथ ही व्यापारी एवं व्यवसायी वर्गों द्वारा विशेष रूप से समर्थित/पोषित रहा है। इसी कारण जैन कला का वैदिक पौराणिक परम्परा के समानान्तर मन्दिरों एवं देव मूर्तियों तथा अलंकरणों के सन्दर्भ में निरन्तरता में विकास हुआ।

जैन कला एवं स्थापत्य की दृष्टि से मथुरा (उत्तर-प्रदेश) के बाद मध्य-प्रदेश का विशेष महत्त्व पुरातात्विक साक्ष्यों से प्रमाणित है। मध्य-प्रदेश में गुप्त काल से ही जैन धर्म के प्रमुख आराध्य देव यानी तीर्थकरों की मूर्तियों के उदाहरण मिलते हैं, जो मुख्यतः उदयगिरि, विदिशा और नचना से प्राप्त हैं। इनमें विदिशा के दुर्जनपुर नामक स्थान से मिली गुप्त कालीन तीन तीर्थकर मूर्तियां मध्यप्रदेश की प्राचीनतम ज्ञात जैन मूर्तियां हैं जो ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से अप्रतिम हैं। वर्तमान में तीनों तीर्थकर मूर्तियां स्थानीय विदिशा संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इन मूर्तियों पर गुप्तकालीन लिपि में तिथिरहित अभिलेख हैं जिनमें “महाराजाधिराज रामगुप्त” का नामोल्लेख हुआ है। पूर्व में इन मूर्तियों के अभिलेखों को जी.एस. गाई^१ ने निष्कर्ष सहित प्रकाशित किया था। ये निष्कर्ष गुप्त शासक रामगुप्त की ऐतिहासिकता की दृष्टि, से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। साहित्यिक साक्ष्यों में रामगुप्त को समुद्रगुप्त का पुत्र एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय का अग्रज बतलाया गया है। परवर्ती साहित्यिक साक्ष्यों (विशाखदत्त के देवीचन्द्रगुप्तम् के परवर्ती सन्दर्भों) एवं रामगुप्त की मालवा (मध्य-प्रदेश) से मिली ताम्र-मुद्राओं के आधार पर रामगुप्त को गुप्त शासक के

रूप में स्वीकार करने में विद्वान् कठिनाई का अनुभव कर रहे थे, क्योंकि गुप्त अभिलेखों में वर्णित वंशावली में रामगुप्त का नामोल्लेख नहीं हुआ है। साथ ही उस समय तक गुप्त शासकों द्वारा ताम्र मुद्राएं जारी ही नहीं की गयी थीं।

विदिशा से प्राप्त तीर्थकर मूर्तियों ने गुप्त राजवंश के इतिहास की उपर्युक्त समस्या का भी पूरी तरह समाधान कर दिया है। इन मूर्ति लेखों में 'महाराजाधिराज' की उपाधि के साथ रामगुप्त का नामोल्लेख हुआ है। महाराजाधिराज की उपाधि सभी मुख्य गुप्तशासकों जैसे चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम आदि ने धारण की थी, फलतः साहित्यिक एवं मुद्रा-साक्ष्यों को ये तीर्थकर मूर्तियां पुष्ट करती हैं। मूर्तिलेख के अतिरिक्त लाक्षणिक एवं शैलीगत विशेषताओं के आधार पर भी ये तीर्थकर मूर्तियाँ समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन के मध्य यानी ३७५ से ३८० ई. के बीच की ही जान पड़ती हैं। यह ऐसा संक्रमण काल था जब कुषाण कला शैली का प्रभाव न तो पूरी तरह समाप्त हुआ था और न ही गुप्त काल की सहज-स्वाभाविक कला शैली पूरी तरह स्थापित हुई थी। इस प्रकार विदिशा की ये जैन मूर्तियां न केवल जैनधर्म, कला और आस्था की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, वरन् गुप्त शासक समुद्रगुप्त के ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त की ऐतिहासिकता की दृष्टि से भी एकमात्र ज्ञात प्रामाणिक पुरातात्विक साक्ष्य हैं।

विदिशा की तीन तीर्थकर मूर्तियों में से दो मूर्तियों के लेखों में तीर्थकरों के नाम चन्द्रप्रभ (आठवें तीर्थकर) एवं पुष्पदन्त (नवें तीर्थकर) अभिलिखित हैं। इन मूर्तियों के बारे में आर.सी. अग्रवाल ने सर्वप्रथम लेख प्रकाशित किया^२ और बाद में यू.पी. शाह ने भी उसपर अपना अभिमत दिया है।^३ तीनों ही मूर्तियों में तीर्थकरों के साथ पहचान के लिए कोई लांछन या चिह्न नहीं उत्कीर्ण किया गया है। लगभग ५० वर्ष बाद की चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की पांचवीं शती ई. के प्रारंभ की राजगिर (बिहार) से प्राप्त तीर्थकर मूर्ति में ही पहली बार लांछन (शंख) का अंकन हुआ है, जिसके आधार पर राजगिर की मूर्ति की पहचान २२वें तीर्थकर नेमिनाथ से की जा सकी है। लांछन न होते हुए भी विदिशा की मूर्तियों में

तीर्थकरों का नामोल्लेख हुआ है, जो पूर्ववर्ती कुषाण मूर्ति परम्परा का अनुमान है। विदिशा की तीर्थकर मूर्तियों की शरीर-रचना में मांसलता एवं ध्यान-मुद्रा में हाथों तथा पैरों की रचना में एक कड़ापन भी कुषाण मूर्ति शैली का स्मरण कराती है। दूसरी ओर मूर्ति की पीठिकाओं पर सिंहासन के सूचक दो सिंहों और धर्मचक्र का अंकन कुषाण-गुप्त शैली के संक्रमण काल का सूचक है। प्रभामण्डल में द्रष्टव्य नख अलंकरण कुषाण शैली में है जबकि विकसित पद्म गुप्त शैली के करीब हैं। पार्श्ववर्ती चामरधारी सेवकों के अलंकरण, उनके चामर और उन्हें धारण करने की शैली तथा आकृतियों का सहज रूप में खड़ा होना पूरी तरह गुप्त शैली में है। वक्ष में श्रीवत्स चिह्न का अंकन और मुख भाग तथा होठों पर (केवल एक उदाहरण में मुखभाग शेष है) मन्द स्मित गुप्त शैली में है। दूसरी ओर पूरी खुली हुई आँखें कुषाण शैली में हैं। इस प्रकार लक्षण और कला शैली दोनों ही दृष्टियों से विदिशा की तीर्थकर मूर्तियां न केवल मध्य-प्रदेश वरन् सम्पूर्ण भारत की ऐसी विलक्षण मूर्तियां हैं, जिनमें कुषाण-गुप्त काल की विशेषताएं एक साथ देखी जा सकती हैं।

तीन में से केवल दो ही मूर्तियों के पीठिका लेखों में चन्द्रप्रभ और पुष्यदंत की प्रतिमाओं की स्थापना से संबंधित महत्त्वपूर्ण सूचनाएं मिलती हैं। इन लेखों में इस बात का उल्लेख हुआ है कि गुप्त शासक रामगुप्त ने 'चेलुक्षमण' (आचार्य सर्पसेन क्षमण के शिष्य और चन्द्रक्षमाचार्यक्षमण के प्रशिष्य) के परामर्श पर तीन तीर्थकर मूर्तियों का उकेरन कराया था। इससे चन्द्रगुप्त द्वितीय के अग्रज रामगुप्त की जैनधर्म के प्रति विशेष आस्था की पुष्टि होती है। आचार्य चन्द्र दिगम्बर या यापनीय परम्परा से सम्बद्ध थे। फलतः तीनों तीर्थकर मूर्तियाँ दिगम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्धित थीं।

इन प्रतिमाओं के मूल लेख और उनका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार हैं-
प्रथम प्रतिमा (चन्द्रप्रभ) की पीठिका पर उत्कीर्ण लेख (चित्र सं. - ०१)-

पंक्ति १:- “भगवतोऽर्हतः। चन्द्रप्रभस्य प्रतिमेयं कारिता

48 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 1, जनवरी-मार्च 2015

- पंक्ति २:- महाराजाधिराज-श्रीरामगुप्तेन-उपदेशात् पाणिपा-
पंक्ति ३:- त्रिक चन्द्रक्षमाचार्य्य क्षमण-श्रमण-प्रशिष्याचार्य्य-
पंक्ति ४:- सर्पसेनक्षमणशिष्यस्य गोलक्यान्त्यासत्पुत्रस्य
चेलुक्षमणस्येति।”

अनुवाद-

“महाराजाधिराज श्रीरामगुप्त के द्वारा भगवत् अर्हत् (यानी तीर्थंकर) चन्द्रप्रभ की यह प्रतिमा उत्कीर्ण करायी गयी। उन्होंने चेलुक्षमण के उपदेश के कारण इसका निर्माण कराया था। चेलुक्षमण, गोलक्यान्ति का सत्पुत्र एवं आचार्य्य सर्पसेन क्षमण का शिष्य था। पाणिपात्रिक (अर्थात् पाणि ही हो पात्र जिसका) चन्द्रक्षमणाचार्य्य क्षमण-श्रमण का प्रशिष्य था।”

द्वितीय प्रतिमा (पुष्पदन्त) की पीठिका पर उत्कीर्ण लेख -

- पंक्ति १:- “भगवतोऽर्हतः। पुष्पदन्तस्य प्रतिमेयं कारिता।
पंक्ति २:- महाराजाधिराजश्रीरामगुप्तेन उपदेशात् पाणिपात्रिक
पंक्ति ३:- चन्द्रक्षम (णा) चार्य्य-(क्षमण)-श्रमण प्रशि (ष्यस्य)
पंक्ति ४:-

अनुवाद-

“महाराजाधिराज श्रीरामगुप्त द्वारा भगवत् अर्हत् पुष्पदन्त की यह प्रतिमा उत्कीर्ण करायी गयी। उन्होंने पाणिपात्रिक चन्द्रक्षमणाचार्य्य के प्रशिष्य।”

तृतीय प्रतिमा (नाम स्पष्ट नहीं) की पीठिका पर उत्कीर्ण लेख-

- पंक्ति १:- “भगवतोऽर्हतः (चन्द्रप्रभ?) स्य प्रतिमेयं कारिता
महा(राजा)धिराज-
पंक्ति २:- श्री (रामगुप्ते) न उ (पदेशात्) (पा)णि-(पात्रि).....
पंक्ति ३:-
पंक्ति ४:-

अनुवाद-

“महाराजधिराज श्रीरामगुप्त द्वारा भगवत् अर्हत् (चन्द्रप्रभ?) की इस प्रतिमा की स्थापना की गयी थी। उन्होंने पाणिपात्रिक.....के उपदेश से.....”

विदिशा के दुर्जनपुर से मिली उपर्युक्त तीर्थकरों की तीनों मूर्तियों और उनके पीठिका लेखों के अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं-

१. तीनों ही तीर्थकर मूर्तियों का उकेरन गुप्तशासक महाराजाधिराज रामगुप्त द्वारा कराया गया, जो समुद्रगुप्त का ज्येष्ठपुत्र और चन्द्रगुप्त द्वितीय का अग्रज था।

२. तीनों ही मूर्ति लेखों में तीर्थकर या जिन के स्थान पर “भगवतो अर्हतः” अभिलिखित है जो कुषाण कालीन परम्परा में है, क्योंकि मथुरा की कुषाण कालीन तीर्थकर मूर्तियों में भी लेख “भगवतो अर्हत्” से प्रारंभ होते हैं।

३. ये मूर्तियां कुषाण काल में बनी तीर्थकरों- ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ और महावीर के स्थान पर चन्द्रप्रभ और पुष्पदंत तीर्थकरों की हैं। ज्ञातव्य है कि कुषाण काल यानी दूसरी शती ई. के अन्त तक चन्द्रप्रभ और पुष्पदंत जिनों की मूर्तियां नहीं बनी थीं।

४. तीनों ही मूर्तियों का निर्माण सम्राट द्वारा जैनाचार्य चेलुक्षमण के उपदेश के फलस्वरूप कराया गया।

५. कुषाण कालीन तीर्थकर मूर्ति परम्परा में ही दुर्जनपुर की मूर्तियों में भी लांछन का अंकन नहीं हुआ है। केवल पीठिका लेखों में तीर्थकरों के नाम उल्लिखित हैं।

६. शैली की दृष्टि से दुर्जनपुर की ये प्रतिमाएं कुषाण-गुप्त संक्रमणकाल की हैं, जिनकी तिथि रामगुप्त के काल ३७५ से ३८० ई. के मध्य की है।

७. मूर्ति लेख में जैनाचार्य के लिए ‘पाणिपात्रिक’ शब्द का व्यवहार हुआ है जो आज भी जैन दिगम्बर साधुओं की जीवित परम्परा है।

विदिशा की तीर्थकर मूर्तियों में उन्हें ध्यान-मुद्रा में पूरी तरह शान्त निरूपित किया गया है, जो जैन तीर्थकरों के वीतरागी स्वरूप की सटीक अभिव्यक्ति है और उनकी साधना की पराकाष्ठा को दर्शाती है। यही जैन कला का वैशिष्ट्य भी रहा है क्योंकि जैन कला में तीर्थकर मूर्तियों के माध्यम से जैन धर्म के साधना, अपरिग्रह और अहिंसा भाव को अनुभूति के स्तर पर अभिव्यक्त किया गया जो किसी भी साधक को जैन धर्म के इन सिद्धान्तों को आत्मसात करने की प्रेरणा देता है। मूर्तिकला एवं मूर्तिपूजा का यही मूल अभीष्ट भी है।

पाद-टिप्पणी -

१. जी.एस.गार्ड- “श्री इन्स्क्रीप्सन्स ऑफ रामगुप्त”, जर्नल आफ ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, (ज.ओ.इ.ब.), खण्ड १८, १९६९, पृ. २४७-५१.
२. आर.सी. अग्रवाल- “न्यूली डिस्कवर्ड स्कल्पचर्स फ्रॉम विदिशा”, ज.ओ.इ.ब., खण्ड १८, अं. ३, पृ. २५२-५३.
३. यू.पी.शाह- “सेन्ट्रल इण्डिया (अध्याय १२)”, जैन आर्ट ऐण्ड आर्किटेक्चर, (सम्पा. ए. घोष), खण्ड एक, नई दिल्ली, १९७४, पृ. १२७-१२८.
४. उदय नारायण राय- गुप्त सम्राट और उनका काल, इलाहाबाद, १९७१, पृ. ६०२-०३.

चित्र-सूची :-

१. चन्द्रप्रभ, दुर्जनपुर (विदिशा, मध्य-प्रदेश), ३७५-८० ई., विदिशा संग्रहालय (क्रमांक २४६).



चित्र संख्या ०१

लीलावईकहा में अलङ्कार व्यवस्था

श्रीमती सुलेखा मोगरा

काव्यकारों ने शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना है और रस को काव्य की आत्मा माना है।^१ काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य सौन्दर्य के लिए अलङ्कार तत्त्व को आवश्यक माना है। आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि अलङ्कार शब्द-अर्थ-स्वरूप काव्य के अस्थिर धर्म हैं और ये भावों एवं रसों का उत्कर्ष करते हुए वैसे ही काव्य की शोभा बढ़ाते हैं जैसे हार आदि आभूषण नारी की सुन्दरता में चार चाँद लगा देते हैं।

“अलङ्करोति भूषयति या काव्यं सोऽलङ्कारः।” जिसके द्वारा अलंकृत किया जाता है, सुशोभित किया जाता है या जो काव्य की शोभा को बढ़ाता है वह अलङ्कार है। “अलम्” का अर्थ आभूषण है और “कार” का अर्थ है प्रदान करना अर्थात् जो अलंकृत या अभिभूषित करे उस काव्योपादान का नाम अलङ्कार है। दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, भामह आदि ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार काव्य में शोभादायक धर्म को अलङ्कार की संज्ञा दी है।

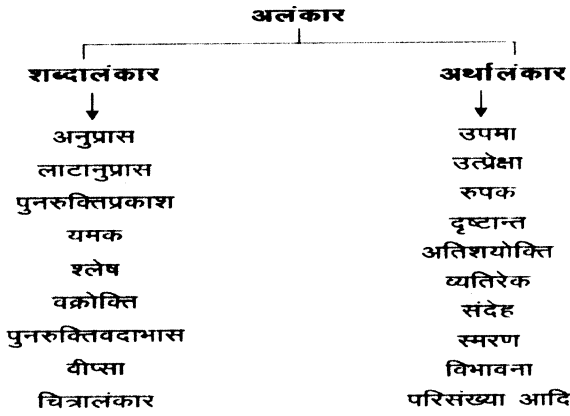
“काव्य” ‘शोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते’ अर्थात् शोभा को बढ़ाने वाले धर्मों को अलङ्कार काव्य कहा जाता है। अलङ्कार शब्द और अर्थ के ये अस्थिर धर्म हैं जो शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाते हैं^२ जो रस आदि के अभिव्यंजन में भी सहायक हैं।^२

शोभावर्धक धर्म के कारण अलङ्कारों को दो भागों में विभक्त किया गया है।

१. शब्दालङ्कार, २. अर्थालङ्कार

१. शब्दालङ्कार : जहाँ कविता में चमत्कार (चारुता, सुन्दरता) शब्द पर निर्भर हो।

२. अर्थालङ्कार :- जहाँ कविता में चमत्कार (चारुता, सुन्दरता) शब्द पर निर्भर न होकर शब्द के अर्थ पर निर्भर हो।



शब्दालङ्कार : शब्दालङ्कार के कुल ९ भेद हैं-

१. अनुप्रास अलङ्कार -

तुल्यश्रुत्सक्षरावृत्तिरनुप्रासः स्फुरद्गुणः।

अतत्पदः स्याच्छोकानां लाटानां तत्पदश्च सः।

पद और वाक्य में वर्णों की आवृत्ति का नाम अनुप्रास अलङ्कार है।

जहाँ कथन में एक वर्ण (अक्षर) या अनेक वर्ण जब दो या दो अधिक बार एक ही क्रम में आएँ, भले ही उन वर्णों में स्वर की समानता न हो, जहाँ अनुप्रास आवृत्ति हो और माधुर्य आदि गुणों की स्फुरणा हो, वहाँ अनुप्रास अलङ्कार होता है। अर्थात् जहाँ शब्दों की समानता होती है वहाँ अनुप्रास अलंकार होता है। कवि कौतूहल के लीलावई काव्य में इस तरह की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। यथा -

अह एवं बहुसो मंतिरुण गोसम्मि णियय-कउयाओ।

संचलिओ परमेसर परिमिय-परिवार-परियरिओ ॥^२१६४॥

अर्थ - हे परमेश्वर इस प्रकार बहुत मंत्रणा करके प्रातः काल कुछ लोगों से घिरा हुआ अपने सैन्य शिविर से निकला।

अनुप्रास अलङ्कार के प्रकार

कथन में वर्णों की आवृत्ति के आधार पर अनुप्रास के चार भेद होते हैं:

१. **छेकानुप्रास** - जब वर्ण या वर्ण समूह दो बार ही आए।

यथा - णिज्जइ णिसाएँ चंदो णिसा वि चंदेण दोहि मी अणंगो।

मयणेण वि से विरहो दूरं तेणावि संतावो ॥ ५३२ ॥

२. **वृत्यानुप्रास** - जब वर्ण या वर्ण समूह तीन या तीन से अधिक बार आए।

यथा - तं णमह जस्स तइया तइय-वयं तिहुयणं तुलंतस्सा।

सायार मणायारे अप्पणमप्प च्चिय णिसण्णं ॥ २ ॥

३. **श्रुत्यानुप्रास** - जब एक स्थान से उच्चरित होने वाले बहुत से वर्णों का प्रयोग किया जाए।

यथा - कक्कस-भुय-कोप्पर-पूरियाणणो कढिण-कर-कयावेसो।

केसि-किसोर-कयत्थण-कउज्जमो जयइ महमहणो ॥७॥

४. **अन्त्यानुप्रास** - जब दो या दो से अधिक शब्दों या वाक्यों अथवा छन्दों के चारणों के अन्त में अन्तिम दो स्वरों की बीच के व्यंजन सहित, आवृत्ति हो।

यथा - सरसावराह-परिकुविय-कामिणी-माण-मोह-लंपिककं।

कलयंठि-उलं चिय कुणई जत्थ दोच्चं पियाण सया॥५८॥

२. **लाटानुप्रास** : जब कोई शब्द अनेक (दो या दो से अधिक) बार आए और अर्थ अनेक बार एक ही हो, परन्तु अन्वय प्रत्येक बार भिन्न हो।

यथा - तो सो सिय-वारण-पड्डि-संठिओ सेय-वास-सिय-कुसुमो।

सेओहंस-विलित्तो सियायवत्तो समुच्चलिओ ॥१२९१॥

३. **पुनरुक्तिप्रकाश** -जब शब्द की आवृत्ति हो पर प्रत्येक बार अर्थ वही का वही रहे और अन्वय भी प्रत्येक बार वही रहे।

यथा - भणियं च पिययमाए पिययम किं तेण सद्द-सत्थेणा।

जेण सुहासिय-मग्गो भग्गो अम्हारिस-जणस्स ॥३९॥

४. यमक अलंकार :-

स्यात्पादपदवर्णानामावृत्तिः संयुतायुता ।१।

यमकं भिन्नवाच्यानामादिगध्यान्त गोचरम् ॥

भिन्न अर्थ वाले पाद, पद और वर्ण की संयुक्त या असंयुक्त रूप से आवृत्ति को यमक कहते हैं। यमक पद्य के आदि, मध्य और अन्त में भी हो सकता है। जब कोई शब्द अनेक बार आए और अर्थ प्रत्येक बार भिन्न हो उसे यमक अलङ्कार कहते हैं।

यमक के भेद - १. अभंग यमक - २. सभंग यमक, यथा -

जयंति ते सज्जण-भाणुणो सया वियारिणो जाण सुवण्ण-संचया ।
अइट्ठ-दोसा वियसंति संगमे कहाणुबंधा कमलायरा इव ॥१२॥

उपरोक्त गाथा के अन्त में यमक है।

यथा - सूरौ विण सत्तासो सोमो वि कलंक-वज्जिओ णिच्चं ।

भोई वि ण दोजीहो तुंगो वि समीव-दिण्ण-फलो ॥६७॥

५. श्लेष अलङ्कार

श्लेषो यत्र पदानि स्युः स्यूतानीव परस्परम् ।

ओजः समासभूयस्त्वं तद्वधेष्वतिसुन्दरम् ।

जहाँ उसी पद से या भिन्न पद से एक ही वाक्य अनेक अर्थों को व्यक्त करता है वहाँ श्लेष अलङ्कार होता है।

यथा - धिप्पइ कणयमयं पिव पसाहणं जणिय-तिलय-सोहेण ।

अब्भहिय-जणिय-सोहं कणियार-वणं वसंतेण ॥७७॥

अन्य गाथा - १, २, ३, ४, ५, ६, ५१

श्लेष के दो भेद होते हैं- १. अभंग श्लेष व २. सभंग श्लेष।

अभंग श्लेष :- जहाँ शब्द के टुकड़े किए बिना ही उससे कई अर्थ निकले वहाँ अभंग श्लेष होता है।

सभंग श्लेष :- जहाँ शब्द के टुकड़े करने से कई अर्थ निकले, वहाँ सभंग श्लेष होता है।

६. वक्रोक्ति अलङ्कार :-

प्रस्तुतादपरं वाच्यमुपादायोत्तर प्रदः।

भङ्गश्लेषमुखेनाह यत्र वक्रोक्तिरेव सा ॥

जब उत्तर देने वाला व्यक्ति किसी पद को भंग करके या उस पद में आये श्लेष के आश्रय से पूछने वाले के द्वारा प्रस्तावित अर्थ के द्योतक वाक्य का आश्रय लेकर उत्तर देता है तो वह वक्रोक्ति अलङ्कार है। अर्थात् जहाँ किसी उक्ति से वक्ता के अभिप्रेत आशय से भिन्न अर्थ की कल्पना की जाए वहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार होता है।

यथा - को हसइ को व गायइ को णच्चइ को सवेइ मेहुणयं ।

सरयसिरीए विउत्तो विरसो एसम्ह वीवाहो ॥३२०॥

वक्रोक्ति अलङ्कार के दो भेद होते हैं:-

१. श्लेषण वक्रोक्ति :- जहाँ श्लेषण के कारण अन्य अर्थ की कल्पना की जाये वहाँ श्लेषण वक्रोक्ति अलङ्कार माना जाता है।

२. काकु वक्रोक्ति :- जब शब्द इस प्रकार उच्चारित किया जाए कि सुनने वाला उसका कोई दूसरा ही अर्थ ले ले, वहाँ काकु वक्रोक्ति अलङ्कार होता है।

७. पुनरुक्तिवदाभास :-

जब अर्थ की पुनरुक्ति दिखाई पड़े परन्तु वास्तव में पुनरुक्ति न हो उसे पुनरुक्तिवदाभास अलङ्कार कहते हैं।

यथा - कीए वि महा-संमद्-सेय-तण्णाय-णीवि-बंधाए।

दुव्वोज्झो उज्झिय-मेहलो वि जाओ णियंब-भरो ॥१२२॥

८. वीप्सा अलङ्कार -

आदर उत्साह, आश्चर्य, शोक, घृणा आदि मन के विकारों को सूचित करने के लिए कुछ शब्दों को बार-बार दोहराया जाता है। इससे मनोगत भावना प्रकट होती है। जहाँ एक ही समान, एक ही अर्थ वाले शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं वहाँ वीप्सा अलङ्कार होता है। यथा -

एम्ब-विहे वय-विहवे एम्ब-विहाए वि रुय-सोहाए ।

एम्ब-विहं तव-चरणं एम्ब-विहो तवोवणे वासो ॥२६९॥

अर्थ - इस प्रकार के आयु-वैभव और रूप-सौन्दर्य के होने पर भी तप का आचरण करना और इस तपोवन में रहना, ये सब क्यों?

९. चित्रालङ्कार :-

यत्राङ्गसन्धितद्रूपैरक्षरैर्वस्तुकल्पना ।

सत्यां प्रसक्तौ तच्चित्रं तच्चित्रं चित्रकृच्च यत् ॥

जिस छंद में अक्षरों से प्रासाद गुण की कल्पना की जाती है उसे चित्रालङ्कार कहते हैं।

यथा - एक्केकम-वयण-मुणाल-दाण-वलियद्ध-कंधरा-बंधं।

चलण-कमलेसु लिहियं केणेयं हंस-मिहुण-जुयं ॥९९॥

मुंह में रखे हुए कमलनाल देने के लिए आधी गर्दन को घुमाये हुए हंस के जोड़ों को तुम्हारे चरण कमलों पर किसने बना दिया है।

अन्य गाथा - १०५

अर्थालङ्कार :-

अर्थालङ्कार में अलङ्कार का चमत्कार शब्द या शब्दों पर निर्भर नहीं रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि शब्दों के बदल देने पर भी अलङ्कार (काव्य सौन्दर्य) नष्ट नहीं होता।

अर्थालंकार के भेद :- अर्थालङ्कार के मुख्य तीन भेद हैं -

१. सादृश्यमूलक या साधर्म्यमूलक अर्थालङ्कार

२. विरोधमूलक अर्थालङ्कार

३. अन्य संसर्गमूलक अर्थालङ्कार

१. सादृश्यमूलक अर्थालङ्कार - इस प्रकार के अलङ्कारों में दो वस्तुओं में विद्यमान समता को सामने रखकर कोई बात कही जाती है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, उदाहरण, अन्योक्ति आदि प्रमुख सादृश्यमूलक अर्थालङ्कार हैं। इस अलङ्कार में प्रायः ४ बातें पायी जाती हैं। उपमेय, उपमान, साधारण धर्म और वाचक शब्द। किसी में भी ये चारों बातें होती हैं, किसी में केवल तीन और किसी में दो ही होती हैं।

२. विरोधमूलक अर्थालङ्कार :- इस प्रकार के अलङ्कारों में दो वस्तुओं के मूल में किसी न किसी प्रकार का विरोध रहता है। यह विरोध कई प्रकार का हो सकता है, जैसे वस्तु और वस्तु का विरोध, गुण और गुण का विरोध आदि। विरोधाभास, असंगति, विभावना, विशेषोक्ति, आदि प्रमुख विरोधमूलक अर्थालङ्कार हैं।

३. अन्य संसर्गमूलक अर्थालंकार :- इस वर्ग के अन्तर्गत निम्नलिखित अलङ्कार आते हैं :-

१. शृंखला मूलक :- इनमें दो या अधिक पदार्थों का क्रम से वर्णन होता है और वे एक-दूसरे से शृंखला के समान बंधे रहते हैं, जैसे - एकावली कारणमाला आदि अलङ्कार।

२. लोकन्याय मूलक - इनमें तर्क, लोक-प्रमाण (दृष्टान्त) से युक्त वाक्य के द्वारा रोचकता उत्पन्न की जाती है - काव्य लिंग, अनुमान अलङ्कार।

३. गूढार्थ प्रतीतिमूलक - (वस्तुमूलक) इसमें व्यंग्य में छिपाकर अथवा उलटी बातें कही जाती हैं जैसे- सूक्ष्म, व्यायोक्ति अलङ्कार।

१. उपमा :-

उपमानेन सादृश्यमुपमेयस्य यत्र सा।

प्रत्ययाव्ययतुल्यार्थसमासैरूपमा मता ॥

जहाँ “वति” आदि प्रत्यय, “इव” आदि अव्यय, “तुल्य” आदि शब्द और “कर्मधारय” आदि समासों के प्रयोग से जहाँ अप्रस्तुत (उपमान) के साथ प्रस्तुत (उपमेय) में सादृश्य दिखलाया जाता है वहाँ उपमा अलङ्कार होता है। इसकी पहचान इव तुल्य ‘सम’ आदि शब्द और कर्मधारय आदि समासों के प्रयोग से होती है- उपमा (उप+मा) का शाब्दिक अर्थ है समीप रख कर मापना।

इसके चार प्रमुख अंग माने गये हैं- उपमेय, उपमान, साधारण धर्म एवं वाचक शब्द ।

उपमा के भेद :-

उपमा के प्रमुख दो भेद है- पूर्णोपमा और लुप्तोपमा ।

१. **पूर्णोपमा** - जब उपमा के चारों अंग मौजूद रहते हैं, तब पूर्णोपमा होती है।

२. **लुप्तोपमा** - जब इन चारों अंग में से कोई भी एक अंग नहीं रहता, तब वहाँ “लुप्तोपमा” होती है। अंग लुप्त होने पर धर्म लुप्तोपमा और वाचक लुप्त होने पर वाचक लुप्तोपमा।

यथा - चंदु ज्युयावयंसं पवियंभिय-सुरहि-कुवलयामोयं ।

णिम्मल-तारालोयं पियइ व रयणी-मुहं चंदो ॥३१॥

अन्य गाथा - ८, १२, ५१, ६९, ७०

२. रूपक अलङ्कार -

रूपकं यत्र साधर्म्यादर्शयोरभिदा भवेत् ।

समस्तं वासमस्तं वा खण्डं वाखण्डमेव वा ॥१॥

अर्थालङ्कारों की श्रेणी से सबसे अधिक उपयोग इस अलङ्कार का किया जाता है। इस अलङ्कार में उपमेय, उपमान का रूप धारण करता है। इससे इसका नाम रूपक पड़ा है। रूपक में उपमेय और उपमान दो पदार्थ एक ही समान मालूम होने लगते हैं।

जब एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप किया जाये अर्थात् जब एक वस्तु को दूसरी वस्तु का रूप दिया जाये या एक वस्तु को दूसरी वस्तु बना दिया जाये तो वहाँ रूपक अलङ्कार होता है।

रूपक के तीन भेद होते हैं: १. सांग (सावयक) रूपक, २. निरंग (निरवयन) रूपक ३. परंपरित रूपक।

यथा - अण्णण-वण-लया-गहिय-परिमलेणाणिलेण छिप्पंती।

कुसुमंसुएहि रुयइ व परम्मूही तरुण-चूय-लया ॥८७॥

अन्य गाथा - ४, २०, २३, ३४, ७०, ९१, १६६

३. उत्प्रेक्षा:-

कल्पना काचिदौचित्याघत्रार्थस्य सतोअन्यथा ।

घोतितेवादिभिः शब्दैरूत्प्रेक्षा सा समृता यथा ॥

उत्प्रेक्षा - १, १९, ३१, १७३, १३०८

४. समासोक्ति :-

उच्यते वक्तुमिष्टय प्रतीतिजनने क्षमम् ।

सधर्म यत्र वस्त्वन्यत्समासोक्तिरियं यथा ॥

विवक्षित अर्थ में प्रीति उत्पन्न करने के लिये जहां प्रीति योग्य समान अर्थ वाले किसी अन्य अर्थ की उक्ति की जाती है वहां समासोक्ति अलङ्कार होता है। जहाँ प्रस्तुत अर्थ को अप्रस्तुत अर्थ के द्वारा सूचित किया जाये, वहाँ अन्योक्ति अलङ्कार होता है अर्थात् जिसे कुछ कहना हो, उसे स्पष्ट शब्दों में न कह कर अन्य को संबोधित करके ऐसे तरीके से कहा जाये कि उससे वास्तविक बात समझ में आ जाये। समासोक्ति को अन्योक्ति अलङ्कार भी कहा जाता है।

यथा - चंदुज्युयावयंसं पवियंभिय-सुरहि-कुवलयामोयं।

णिम्मल-तारालोयं पियइ व रयणी-मुहं चंदो ॥३१॥

अर्थ - कुमुद के कर्णाभूषण को धारण करने वाली और कमल की उत्कृष्ट गन्ध से युक्त अन्य गाथा - २४

५. अनन्वय :-

उपमानोपमेयत्वमेकस्यैवत्वनन्वयः।

जब उपमेय का उपमान न मिल सकने के कारण उपमेय को ही उपमान बना दिया जाये अर्थात् जहाँ उपमेय की उपमा, उपमेय से ही दी जाये अथवा जहाँ एक ही शब्द उपमेय और उपमान का काम करता है, वहाँ अनन्वय अलङ्कार होता है।

यथा - जो सो अविग्गहो वि हु सव्वंगावयव-सुंदरो सुहओ।

दुदंसणो वि लोयाण लोयाणाणंद-संजणो ॥६५॥

जहाँ के उद्यान अत्यन्त सुखपूर्वक सुरादि पान करके चर्चरी गीत गाते हुए लोगों की मधुर ध्वनि से व्याप्त रहते हैं और जो समस्त सुखों का निधान है, ऐसा (महाराष्ट्र) नामक देश प्रसिद्ध है।

६. सन्देह (संशय):-

इदमेतदिदं वेति साम्यादबुद्धिर्हि संशयः।

हेतुभिर्निश्चयः सोऽपि निश्चयान्तः स्मृतो यथा ॥

जब सादृश्य के कारण एक वस्तु में अनेक वस्तुओं के होने की संभावना दिखाई पड़े और निश्चय न हो तब वहाँ सन्देह अलङ्कार होता है यथा -

णमह सरोस-सुयरिसण-सच्चवियं कररुहावली-जुयलं ।

हिरणक्कस-वियडोरत्थलट्टिदल-गम्भिणं हरिणो ॥१॥

अर्थ - रोष से युक्त सुदर्शन चक्र के द्वारा देखी गई, हिरण्यकश्यपु दानवेन्द्र के विशाल वक्षस्थल की हड्डी के टुकड़ों से युक्त विष्णु भगवान् के दोनों हाथों की नखपंक्तियों को नमस्कार करो।

७. भ्रान्तिमान -

वस्तुन्यन्यत्र कुत्रापि तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः ।

निश्चयो यत्र जायेत भ्रान्तिमान्स स्मृतो यथा ॥

जब सादृश्य के कारण उपमेय में उपमान की भ्रांति हो जाये अर्थात् जब उपमेय को भूल से उपमान समझ लिया जाये यथा-

घर-सिर-पसुत्त-कामिणि-कवोल-संकंत-सासि-कला-वलयां।
हंसेहि अहिलसिज्जइ मुणाल-सद्दालुएहि जहिं ॥६०॥

अर्थ - जिस देश में घर की छत पर सोयी हुई कामिनियों के चांदनी युक्त कपोलों को मृणाल का लोभी हंस आस्वादन करना चाहता है।

८. दृष्टान्त-

अन्वरूपापनं यत्र कियया स्वतदर्शयोः।
दृष्टान्तं तमिति प्राहुरलङ्कार मनीषिणः।

जब पहले एक बात कह कर फिर उससे मिलती-जुलती एक दूसरी बात, पहली बात के दृष्टान्त के रूप में कही जाये। यथा -

सासणमिव पुण्णाणं जम्पुप्पत्ति व्व सुह-समूहाणं ।
आयरिसो आयाराण सइ सुछेत्तं पिव गुणाणं ॥४८॥

अर्थ - यह देश पुण्यकक्षा का कथन करने वाली की तरह, सुख-समूह की उत्पत्ति के स्थान की तरह, आचार के आदर्श स्वरूप की तरह और गुणों के लिए सुंदर क्षेत्र की तरह है। अन्य गाथा - ३५, ११५, १८६

९. उदाहरण -

जब एक बात कह कर उसके उदाहरण के रूप में कोई दूसरी बात कही जाये और दोनों कथनों की समता जैसे, ज्यो, जिमि आदि किसी वाचक शब्द के द्वारा दिखाई जाये। यथा -

बहुलंत-दिणेसु ससि व्व जेण वोच्छिण्ण-मंडल-णिवेसो।
ठविओ तणुयत्तण-दुक्ख-लक्खिओ रिउ जणो सव्वो ॥६८॥

अर्थ - अमावस्या के चन्द्रमा के समान दुर्बलता के दुःख से दुःखी दिखलाई पड़ रहे हैं। यथा-अन्य उदाहरण :- गथा नं २३, २४, ६९, ११९

१०. अतिशयोक्ति -

वस्तुनोवक्तुमुत्कर्षमसम्भाव्यं यदुच्यते।

वदन्त्यतिशयारूय तमलङ्कार बुधा यथा ॥

“अतिशय कथन” अतिशयोक्ति है।

जहाँ पर किसी वस्तु का वर्णन इतना बढ़ा-चढ़ाकर किया जाये कि वह लोक-मर्यादा का उल्लंघन कर जाये। वहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है।

अतिशयोक्ति के भेद -

१. सम्बन्धातिशयोक्ति, २. असम्बन्धातिशयोक्ति, ३. अतिक्रमणातिशयोक्ति, ४. चपलातिशयोक्ति ५. अत्यन्तातिशयोक्ति, ६. भेदकातिशयोक्ति, ७. रूपकातिशयोक्ति।

यथा - मरगय-कडय-विणिग्गय-जरढत्तण-णिव्वडंत-तण-णिवहं।

फलह-सिलायल-पसरिय-फंस-मुणिज्जंत-णइ-सोत्तं॥३४९॥

अर्थ - मरकत मणियों के पहाड़ के मध्य भाग से निकले तथा जीर्णता को प्राप्त तृण समूह अलग हो गया है। स्फटिक के शिलातल पर फैले हुए नदी के झरने स्पर्श से जाने जाते हैं।

११. प्रतीप -

जिस कथन में उपमान को उपमेय की उपमा के लिये अयोग्य बताया जाये, उपमान की हीनता सूचित की जाये, उपमान को उपमेय बनाकर अथवा उपमेय को उपमान बनाकर उपमान का तिरस्कार किया जाये वहाँ प्रतीप अलङ्कार होता है। यथा -

इय केण णियय-विण्णाण-पयडणुप्पण्ण-हियय-भावेण ।

अविहाविय-गुण-दोसेण-पाइया सप्पिणी छीरं ॥१००॥

अर्थ - हे चित्रलेखे! अपने विशेष स्थान के प्रदर्शन की हार्दिक इच्छा वाले किसने गुण-दोष का विचार किये बिना सर्पिणी को दूध पिला दिया है।

१२. अपहृति -

नेतदेदिदं हेतीदत्यपहवपूर्वकम् ।
उच्चतेयत्र सादृश्याद पहुतिरियं यथा ।

जहाँ उपमेय का निषेध करके उपमान का होना बताया जाये वहाँ अपहृति अलङ्कार होता है। यथा -

अज्ज वि महग्गि-पसरिय-धूम-सिहा-कलुसियं व वच्छयलं।
उव्वहइ मय-कलंकच्छलेण मयलंछणो जस्स ॥१९॥

जिसके यक्ष की अग्नि से उत्पन्न होकर फैले हुए धूम की शिक्षा से कलुषित चन्द्रमा मृग कलंक के बहाने से आज भी अपने कलंकित वक्षस्थल को धारण किये हुए है। अन्य गाथा :- ३७

१३. विरोधाभास -

आपाते हि विरुद्धत्वं यत्र वाक्ये न तत्तवतः।
शब्दार्थकृतमाभाति स विरोधः स्मृतो यथा ॥

जिस कथन में वस्तुतः विरोध न होने पर भी विरोध दिखाई पड़े वहाँ विरोधाभास अलङ्कार होता है। यथा-

णितच्छरो वि रामाणुलंघिओ णिव्विसो वि विसमइओ।
करि-तुरय-वज्जिओ वि हु पडिरिक्खय-महिहरुघाओ ॥१६९॥

अर्थ - अप्सराओं के निकल जाने पर भी स्त्रियों से अनुलंघित था अर्थात् रामचन्द्र के द्वारा लांघा गया था। विषहीन होने पर भी विष से युक्त था अर्थात् पानी से युक्त था। हाथी और घोड़ों से रहित होने पर भी ऐरावत हाथी और उच्चैश्रवा घोड़ा से रहित होने पर भी राजाओं से परिरक्षित था अर्थात् पर्वतों से घिरा हुआ था। गाथा - ३, १००, १७० अन्य

१४. विभावना -

बिना कारणसद्भावं यत्र कार्यस्य दर्शनम् ।
नैसर्गिकगुणोत्कर्षभावनात्सा विभावना ॥

जिस अलङ्कार में किसी कारण विशेष के बिना स्वाभाविक गुणों के उत्कर्ष से ही कार्य का होना प्रकट होता है उसे विभावना कहते हैं। जब कारण न होने पर भी कार्य हो जाये अर्थात् जलना कार्य के लिए अग्नि रूपी कारण होना चाहिए। यहाँ अग्नि रूप कारण के न होने पर भी जलना रूपी कार्य हो गया है। जब अपूर्ण कारण से कार्य हो, रुकावट होने पर भी कार्य हो जाये, विपरीत कारण से कार्य हो तथा कार्य से कारण उत्पन्न हो जाये तब भी विभावना अलङ्कार होता है। यथा -

णय-विक्रमोवहोज्जा सव्वाण वि पत्थिवाण एस मही।

ण उणेक्क-विक्रम-रसा हवंति सिरि-भाइणो पुरिसा ॥१५१॥

अर्थ - इस पृथ्वी का सभी राजा नीति और पराक्रम से उपभोग कर सकते हैं। किन्तु केवल पराक्रम से पुरुष लक्ष्मी का पात्र नहीं हो सकता है।

१५. दीपक -

आदिमध्यान्तरत्येकपदार्थेसङ्गतिः।

वाक्यस्थ यत्र जायते तदुक्तं दीपकं तथा॥

उपमेय और उपमान दोनों के किसी गुण-धर्म का किसी क्रिया अथवा विशेषण द्वारा केवल एक बार वर्णन किया जाये। अर्थात् जिस स्थान पर आदि, मध्य अथवा अन्त में रहने वाली एक क्रिया से वाक्य का मालादीपक सम्बन्ध उत्पन्न होता है, वहाँ पर दीपक अलङ्कार माना जाता है। यथा -

इमिणा सरएण ससी ससिणा वि णिसा णिसाए कुमुय वणां।

कुमुय-ववेण व पुलिणं पुलिणेण व सहइ हंस-उलं ॥१५॥

अर्थ - इस शरद ऋतु से चन्द्रमा, चन्द्रमा से रात्रि, रात्रि से कुमुदवन, कुमुदवन से नदी का तट और नदी के तट से हंस समूह सुशोभित हो रहा है। अन्य गाथा १६

१६. व्यतिरेक -

केनचिद्यत्र धर्मेण द्रयोः संसिद्धसाम्ययोः।

भवत्येकतराधिक्यं व्यतिरेकः स उच्यते ॥

जिस अलङ्कार में उपमेय और उपमान में से कोई एक भी किसी धर्म विशेष के कारण दूसरे से उत्कृष्ट प्रस्तुत किया जाता है उसको व्यतिरेक अलङ्कार कहते हैं। उपमेय को उपमान से बढ़ाकर अथवा उपमान को उपमेय से घटाकर वर्णन करना यथा -

जस्स पिय-बंधवेहि व चउवयण-विणग्गएहि वेएहि।

एक्क-वयणारिवंद-ट्टिएहिं बहु-मण्णिओ अप्पा ॥२१॥

अर्थ - जिस भूषणभट्ट के प्रिय बन्धुजन चार मुख वाले बह्ना के मुख से निकले हुए चारों वेदों को अपने एक ही मुखरूपी कमल में स्थित होने से अपने को उत्कृष्ट मानते थे।

१७. निदर्शना -

उपमेय और उपमान के असम्भव संबन्धों को उपमा बनाना निदर्शना अलङ्कार कहलाता है। यथा -

“इय केण णियय-विण्णाय-पयडणुप्पण्ण-हियय-भावेण।

अविहाविय-गुण-दोसेण पाइया सप्पिणी छीरं ॥१००॥”

अर्थ - हे चित्रलेखे! अपने विशेषज्ञान के प्रदर्शन की हार्दिक इच्छा वाले किसने गुण-दोष का विचार किये बिना सर्पिणी को दूध पिला दिया है। अन्य गाथा - ९६३

१८. विशेषण विपर्यय -

भावों में तीव्रता व अर्थ में लाक्षणिकता लाने के लिए विशेषण को व्यक्ति से हटाकर वस्तु या पदार्थ के साथ रख देना। यथा-काल-परिणाम-

काल-परिणाम-सिढिलस्स सहइ णह-तरु-फलस्स दिणवइणा।

अत्थइरि-सिला-वडणुच्छलंत-रस-सच्छहा संझा ॥४४३॥

अर्थ - काल के परिणाम से शिथिल हुए नभरूपी वृक्ष के फलस्वरूप सूर्य के अस्ताचल की शिला पर गिरने से उछले रस की प्रभा के समान संध्या सुशोभित हो रही थी।

१९. मानवीकरण -

पाश्चात्य अलङ्कारों में सबसे अधिक प्रयोग मानवीकरण अलङ्कार का मिलता है। जहाँ मानवेतर जड़ प्रकृति के पदार्थों में मानव-गुणों का आरोप करके उन्हें मानव के सदृश सप्राण चित्रित किया जाता है या मानव भावों को व्यक्त किया जाता है वहाँ मानवीकरण अलङ्कार होता है। इस अलङ्कार में अमूर्त पदार्थों और अमूर्त भावों को मूर्त रूप में चित्रित किया जाता है। यथा -

तममयमिव गयणयलं अंजण-णिम्मज्जियाओ व दिसाओ।

कोसिय-रुयाणुमेयं जायं रण्णं व वण-गहणं ॥४५३॥

अर्थ - आकाश मण्डल अन्धकारमय के समान हो गया। दिशाएं अंजन से प्रक्षालित होने के समान हो गयीं। उल्लुओं के रोने से अनुमान किया जाता है कि जीवलोक जंगल की तरह हो गया है।

२०. अर्थान्तरन्यास -

उक्तसिद्धयर्थमन्यार्थन्यासो व्याप्तिपुरः सरः।

कथ्यतेअर्थोन्तरन्यासः श्रिष्टोउश्रिष्टच स द्विधा॥

किसी उक्ति को सिद्ध करने के लिए जहाँ युक्तिपूर्वक किसी अन्य अर्थ को प्रस्तुत किया जाता है वहाँ अर्थान्तरन्यास नामक अलङ्कार होता है। यह अर्थान्तरन्यास अलङ्कार दो प्रकार का होता है-

१. श्लिष्ट अर्थान्तरन्यास २. अश्लिष्ट अर्थान्तरन्यास

यथा - तत्थ वि गो-भूमि-सुवण्ण-वत्थ-तिल मीसियाईं दाऊण ।

दाणाईं दिय-वराणं भोयण-सालं समल्लीणो ॥१२८॥

अर्थ - वहाँ गाय, भूमि सुवर्ण, वस्त्र, तिल मिश्रित दान ब्राह्मणों को देकर भोजनशाला में गया। अन्य गाथा - १२९, २९२, २९३

कवि की कल्पना शक्ति अपूर्व होती है वह शब्द और अर्थ दोनों के मूल्यों पर चलता हुआ जो चित्रण करता है उसमें सहजरूप से अलङ्कार आ

जाते हैं। प्रकृति चित्रण, युद्धवर्णन, नारी सौन्दर्य आदि के प्रसंग में विविध रस अपने आप ही स्थान बना लेते हैं। काव्य की गरिमा में छंदों का भी विशेष स्थान होता है परन्तु महाकवि कौतूहल ने अपने इस महाकाव्य में प्रायः गाथा छंद का ही प्रयोग किया है। छंद से कवि कौतूहल के काव्य की भी पहचान होती है और उनकी शब्द सम्पदा का भी आभास होता है। महाकवि होने के कारण कवि ने जो कुछ भी इस प्रेम कथानक में रमणीय चित्रण किया है उसमें रस, छंद और अलङ्कार होना स्वाभाविक है इसी से काव्य की शोभा बढ़ती है। साथ ही कवि के हृदय का भाव, यश, कीर्ति आदि का ज्ञान भी होता है।

सन्दर्भ सूची :

१. जैन माया, आचार्य विद्यासागर व्यक्तित्व एवं काव्य कला, पृ० १९३, आचार्य ज्ञानसागर, वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर (राज) १९९७
२. काव्यालंकार, ३.१.२
३. वाग्भटालंकार, ४/१७

English Section

World Peace and Pratikramaṇa (Confession)

Dr. Samani Shashi Prajna

Introduction to Pratikramaṇa

It is likely that the saint under the constraint of subtle passions may deviate from the minutest details of right conduct, so the saint is ought to purify them daily without any procrastination and deceit by resorting to self-criticism to censuring his faults in presence of the Guru and lastly confession by revealing his committed transgression to the Guru (Ālocanā).¹ *Pratikramaṇa* is to be performed for wrong attitude, absence of self-control and inauspicious activities etc.

Repenting the sins committed knowingly or unknowingly forms an essential part of the devotional practices of Jains. A great significance is given to confession i.e. (pratikramaṇa). It is prominently seen in the fact that the totality of actions meant for the edification is also indicated as *pratikramaṇa*. The transgressions committed in the past due to laxity, is purified through *pratikramaṇa*.² Substance, space, time and modes in four of this context, mentally, vocally, physically committed sins are confessed before the guru and expiations of sins is done to purify the self.³ In *Uttarādhyayana Sūtra*, it is mentioned that by confession of sins (before the Guru), the soul gets rid of the thorns, as it were, of deceit, misapplied austerities, and wrong belief, which obstruct the way to final liberation and causes endless migration of the soul. The soul which is free from deceit doesn't acquire that *karma* which results in having a carnal desire for a woman or eunuch, and annihilates such *karma* that he had acquired before.⁴

Classification of Pratikramaṇa

In *Mūlācāra*, Vaṭṭakera has divided *pratikramaṇa* under the two heads, namely *dravya* and *bhāva-pratikramaṇa*.

1. Bhāva-pratikramaṇa : One should confess before guru about ones perverted view, non-restraint, passion and inauspicious actions as these are causes of bondage and to take the resolution to try hard

not to repeat the same is *bhāva-pratikramaṇa*.⁵ The person who does *bhāva-pratikramaṇa* recites the *sūtras* of *pratikramaṇa* and tries to shed off the *karmas* and at last destroys all the transgressions.⁶ In canonical literature, we find various illustrations of Sādhvī Mṛgāvātī, Sādhvī Candanabālā, Muni Kurgaduka, Muni Rathanemi, Elācīputra etc. performed *bhāva-pratikramaṇa* and attained omniscience.

2. Dravya-pratikramaṇa : On the other hand, the person who does not follow the above mentioned method of confession, only verbally recites the *sūtras* of *pratikramaṇa*, performs *dravya-pratikramaṇa* and does not attain the aim/objective of *pratikramaṇa*.⁷ That saint who merely pronounces the *pratikramaṇa-sūtra* is *dravya-pratikramaṇa*.⁸ Thus who pronounces the *bhāva-pratikramaṇa* opens the way to the shedding off the *karmas* in profusion.⁹ It is to be performed in day, and at night for negligence of movements, fortnightly, four-monthly, yearly and for the whole life.

On the basis of time, *pratikramaṇa* can be divided under seven heads. Various types of *pratikramaṇa*, mainly based on the period of time to which the confession refers, are recognized as¹⁰ :

1. **Daivāsika :** Performed at nightfall and referring to the past day.
2. **Rātrika :** Performed at dawn and referring to the past night.
3. **Pākṣika :** Covering the past *pakṣa* or half-month.
4. **Cāturmāsika :** Covering the past four months.
5. **Vārṣika :** Covering the past year.
6. **Īryāpathika :** Referring to the unwitting harm caused by only a movement.
7. **Uttamārtha :** Referring to lifelong giving up of four kinds of food and all the lifelong committed transgressions are confessed.

All these seven categories of *pratikramaṇa*, when put into critical analysis, cause many questions. One common question which is very logical is how regularly should one perform *daivāsika* and

rātrika-pratikramaṇa? Is it essential to perform half month, four month, and one year *pratikramaṇa*?

To this, it was answered although one performs confession every day, still some transgressions remain unconfessed. So it is important to examine his conscience still more scrupulously every fortnight, even more thoroughly at the four-monthly confession most important of all is the great yearly confession at *saṃvatsarī*. Tīrthaṅkara Mahāvīra was a great psychiatrist and well aware of this fact, so he prescribed these further categories of *pratikramaṇa* for self-purification. Moreover, it is said that the person who doesn't confess ones transgressions due to tenacious attachment and aversion, confesses during the *pratikramaṇa* of *uttamārtha*, i.e. performed before the death which expiates the bound *karmas*.

It will be convenient to deal first with the *īryāpathika-pratikramaṇa*, which has a special importance. The meaning of *īryāpathika-sūtra* runs as follows:

"I want to make *pratikramaṇa* for injury on the path of my movement, in coming and in going, in treading on living things, on seeds, on green plants, on beetles, on mould, on moist earth, and cobwebs. Whatever living organisms with one or two or three or four or five senses have been injured by me, or knocked over, or crushed, or squashed, or touched, or mangled, or hurt or affrighted, or removed from one place to another, or deprived of life-may all that evil have been done in vain."¹¹ So apart from the recitation of the *īryāpathika sūtra*, the performance of *pratikramaṇa* requires the presence of a guru, for reciting the *pratikramaṇa-bīja-sūtra*. "I do *pratikramaṇa* for all that I have done amiss this day in thought, in speech and in act may that evil have been done in vain."¹² So non-violence is the heart of *īryāpathika-pratikramaṇa*. Now let us proceed for social significance of *pratikramaṇa*.

Social Significance of Pratikramaṇa

All the religions of the world, Jainism, Buddhism, Taoism, Sufism, Christianity, Islam accept the ritualistic practice of *pratikramaṇa*

i.e. self-confession. The main reason for doing *pratikramaṇa* is to repent for all forbidden things done and all duties left undone, all infringements of the twelve vows and all actions motivated by passion and hate, and all wrong done in the course of one's daily business or ones house-hold duties. In *pratikramaṇa* one repents for the misdeed committed in the past and in *pratyākhyāna*, a person restrains himself from the repetition of the same sin in future. Confession of sin or *pratikramaṇa*, is a essential part of Jain worship. The objective of this confession, the Jain says, is not to obtain forgiveness of sins and removal of the guilt, but by confessing and carrying out the penance imposed by the director or the Guru, to perform an austerity, in the fire of which it is hoped to burn up some of the *karmas* committing acquired by sing. It is illuminating to notice that the preceptor never imposes a penance, generally concerned with fasting in some way or other, and confessor performs it to the satisfaction of his own conscience. Now let us proceed one by one towards the socio-spiritual relevance of *pratikramaṇa*.

Attitude of Straight-forwardness and Liberation

Confession is not an easy task. Without the attitude of straight forwardness, nobody can perform *pratikramaṇa* in a real sense. Once the person commits any mistake knowingly or unknowingly at once resolves that he should confess for this guilt before the guru. During the confession time also he expresses his mistake as it is, without any attitude of deceit, such a person only can attain purification.¹³ The confessor should confess all the mistakes clearly without any deceit and pride, like an innocent child before the preceptor and take resolution not to repeat the very same transgression a second time. Repeatedly telling this again and again, he/she sheds ones *karmas*.¹⁴ For a spiritual practitioner, it is essential to confess ones mistake before a Guru without any delay, even forty-eight minutes is not excusable if an aspirant remains with thorns as per *Niśītha Bhāṣya*.¹⁵ It is quoted in the *Vyavahāra Bhāṣya* that the mendicant (monk) who dies with the three kinds of thorns without confessing, wanders in this empirical world endlessly.¹⁶ Moreover, it is said, whoever

does deceitful confession, gets more repentance than the straightforward confessor.¹⁷ So this quality of straight-forwardness is not only necessary and beneficial for personal-cum-spiritual upliftment, at the same time it is also essential for solving the problems of crimes and external imposed punishments in the society.

Pratikramaṇa : Self Purification through Repentance

Repenting the sins committed knowingly or unknowingly forms an essential part of the devotional practices of Jains. This form of confession is very unique. Confession consists in saying certain formula, in which the offences are systematically counted and a pious person expresses his repentance in this way. I come back from the sins committed earlier, I blame them, repent them, I absolve myself of them. One repents for the 84,00,000 different types of living beings, if one of these beings are hurt with his mind, speech or body, or one has allowed someone else to harm them or approved someone harming them. This form of expressing general apology for the offence committed against the commandments of *ahimsā* is the only possible one, for no one can know how many insects or elementary beings he has injured or killed while walking, even though as this is prescribed for the ascetics, he pays careful attention to the path.¹⁸ Another formula often used by Śvetāmbaras enumerates eighteen sources of sin (*aṭhāraha pāpasthāna*), as they are the infringement of the small vows, passions, etc., and conclude with an affirmation of the repentance.

Jains know, beside this general confession, an articular confession (*ālocanā*) in which special sins are enumerated. A layman makes this confession before his Guru or some other monk and an ascetic before his Guru or senior. Frequency of confession depends upon the piousness of an individual. It is recommended that one should confess ones sins as often as possible because there is no fix time of the completion of present life-span *karma*. Moreover through regular confession the binding up of the *karma* can be prevented.¹⁹ By expiation of sins (*pratikramaṇa*), he obviates transgressions of the vows; thereby stops the *Āsrava*, (inflow of karmas) preserves a

pure conduct, practices the eight article (aṣṭa-pravacana-mātā) and does not neglect the practice of control (guṇṭi) and pays great attention to it.²⁰

The Guru lays down certain expiations (prāyaścitta) to the one who is confessing to atone for the sins committed by him. The expiation consists usually in fulfillment of certain cult acts namely, recitation of scriptural verses, chanting of *mantras*, practices of meditation, doing special acts of penances. Expiations have a special significance in the order of the monks. Here punishments means for even the smallest offences and stricter punishments for a serious offence. In ten types of expiations, there is a kind of expiation in which even a reduction of spiritual seniority is made.²¹ Jains give extra-ordinary importance to *tapas*. Its great value for the purification of soul and for the destruction of *karmas* is a special peculiarity of the Jains.

Control over Crimes

Such religious process of self-repentance can stop the crimes in the society. The buildup of immorality can be kept under check, as person who commits sin resolves not to continue the same illegal act in future. *Pratikramaṇa* is a great vacuum cleaning system. It aids us in scanning out the past mistakes and thus alerts for future slips. It crushes various cyclones of thoughts and the emotional thunder, which is crucial for professionals to take the appropriate decision at right time. It is a very effective mechanism to wipe out the negativity and shape up the positive, pleasant and peaceful personality. “Sugar factory in tongue and ice factory in brain”, this phrase comes in practice when *pratikramaṇa* affects the life style. Through this repentance, he not only purifies and moulds his conduct but also creates the peaceful society on the earth. It is said in the canons that through free-hearted repentance for hurting others, a person sheds off his bound *karmas*. It is a special privilege of the human beings that they are competent enough to critically analyze ones actions and deserve the capacity to choose the right path through the decision power of self-discretion. No other living being possesses the potentiality to perform *pratikramaṇa* except human beings. It works

as an alarming wake up call to pull back the person from his own blind race in the world. It is the process of enlightenment that reveals the hidden capabilities of the practitioner himself. It is a holy ritual of self-purification through self imposed restraint from the sinful activities.

Self-confession : Self-management

Pratikramaṇa or self-confession is a kind of self-introspection and a complete process of self-management. Today we experience the importance of *pratikramaṇa* in all walks of life for better improvement in respective fields. All categories or fields of persons namely businessman, salesman, teacher, student, public administrator, spiritualist, scientists, they need to reflect on their deeds once done and put in critical analysis which will unfold the essence or truth as how far efficiently positive output has been accomplished. Through this process of self-analysis, self-confession, one can faithfully look to one's plus points and minus points simultaneously. It further leads one to determined improvement of one's virtues and giving up of one's vices in their respective fields. So the great importance of *pratikramaṇa* in Jainism is evident from the very fact that all edifying religious practices depend on *pratikramaṇa-sūtras* being very wide indeed. It not only enriches the spiritual life but grooms the professional part also. "Success on the outside begins within."

Universal Amity and Pratikramaṇa

The keynote of the *pratikramaṇa* is best expressed in the well known verse from the *sūtra* :

*khāmemi savva jīve savve jīvākhmantu me/
mittī me savva-bhūesa vera majjha ṇakeṇavi//²²*

I ask pardon from all living creatures, may all of them pardon me, may I have friendship with all beings and enmity with none. Through this kind of universal forgiveness, the virtue of universal amity develops within us, which is the cause of peaceful co-existence. King Udai defeated the King Candapadyoṭha in war but while coming

back after the victory the important festival of Jains, i.e. *samvatsarī* came and he performed yearly *pratīkramaṇa*, confessed with 84 lakhs of beings, listening to this King Candapadyoṭha laughed at him. King Udai knew the essence of *pratīkramaṇa*, he at once freed the King, forgot the hatred and open-heartedly asked forgiveness.²³

It is likely that the saint, under the constraint of subtle passions may deviate from the minutest ethical conduct, such faults of commission and omission may not accumulate so as to devour the spirit of asceticism, however the saint ought to purify them daily without any procrastination and deceit by resorting to self-criticism (*nindā*), to censuring his faults in presence of the Guru (*garhā*) and lastly to confess by revealing his committed transgression to the Guru (*ālocanā*).²⁴

We find lots of illustrations in canonical literature who confessed for the five *āsravas* (inflow of karmas). Ācārya Āṣāḍhabhūti did confession of *mithyātvā*²⁵, Muni Rathanemi²⁶ and Muni Megha did confession of vowlessness,²⁷ Goutama Svāmī confessed for his remissness before the Ananda Shravaka for negating the clairvoyance knowledge²⁸ by asking forgiveness. The Caṇḍakauśika Serpent confessed for his anger before Mahāvīra²⁹, Bāhubali, son of First conqueror Rṣabha confessed for his pride before Sādhvī Brāhmī and Sundarī.³⁰ Malli Kumārī did not confess for censor, so she became women although she bound the *karma* of *tirthaṅkara*.³¹ Kapila confessed for his greed and in the process of introspection, he attained the *kevala-jñāna*.³² The Prasannachandra Rajarshi merely by thinking bound the lifespan of Hell, but at once confessed for his inauspicious actions and involved himself in auspicious action, *karma* began to shed off and ultimately he attained the omniscience.³³ Even the Arjuna Malakar who killed 1144 persons and acquired demerits but later on he became a monk and tolerated kicks of laities, heard the abuse words calmly as a repentance, in this way by bearing all the hardships, he destroyed all the *karmas* through the (*pratīkramaṇa*) confession of the past deeds. On the other hand, who does not confess for their past demerits or inauspicious actions like the soul of King Śreṇika, Gajasukumāla, Khandaka Muni, experienced the fruition of their bound *karmas* in manifold way.³⁴

Thus confession is the gateway towards the spiritual growth and self-realization.

The Post-modern philosopher Jacque Lacan (1901-1981) speaks of self analysis and its importance in treating a mentally imbalanced subject. The entire treatment by the psycho-analyst is done on the basis of speaking subject. When the person is hypnotized, he speaks everything about his past and in this way he gets relaxed from mental tension and feels himself cured. It is a kind of *pratikramaṇa* only which is utilized as an alternative therapy in present era.

In a nutshell, it is clear that (*pratikramaṇa*) self-confession is a kind of voluntary acceptance of one's guilt open-heartedly. It is a process of self-purification, self introspection and self-evaluation. This process of *pratikramaṇa* is not only relevant in religious field for shedding off the *karmas* but in social life also it is essential for teachers, students, business men, leaders, and all cadres of man. Also if this self-confession technique is applied then :

1. There will be decrease in the graph of immorality rate.
2. Culture of self-discipline will emerge which will decrease the labour of police authorities.
3. All the Judiciary works, which are delayed due to mismanaged mind, where criminals are freed, and innocent people are punished, such immoral governance can be eradicated.
4. The quality of straight-forwardness can be developed which will give full stop to all kinds of vices and social evils. Moreover emotional diseases arising due to deceit-oriented activities can be controlled and a healthy moral society can be built.
5. *Pratikramaṇa* is a self-regulating method which can mould the consciousness of the type of violence in kids which led to school shooting incidents and can bring about a citizen with self-discipline, the mother of success and a means of perfect society.

6. It is a systematic process of spiritual-cum -social personality development through the technique of self-introspection and self-evaluation.
7. It is an unique method of controlling ones passions and achieving the universal amity and the world peace, which is the need of the hour.

References :

1. *Mūlācāra*, verse 26, 620, 622.
2. *Mūlācāra Vṛtti*, 1.27.
3. *Mūlācāra*.1.26.
4. *Uttarādhyayana Sūtra*.29.5.
5. *Mūlācāra of Vaṭṭakera*.6.619.
6. *Ibid*.6.627.
7. *Mūlācāra of Vaṭṭakera*.6.626.
8. *Mūlārādhana*, verse 623.
9. *Ibid*, verse 625.
10. *Yogaśāstra* of Hemacandra, III.130, p. 687.
11. *Yogaśāstra* of Hemacandra, III, 124, pp. 605-7.
12. *Ibid*, pp. 682-83.
13. *Vyavahāra Bhāṣya*, verse 585.
14. *Ibid*.verse 4299, 4300.
15. *Niryukti Bhāṣya*,verse 6309.
16. *Vyavahāra Bhāṣya*, verse 1022.
17. *Ibid*, verse 1022.
18. Glassenapp, *Jainism*, p. 418.
19. *Ibid*, p. 418.
20. *Uttarādhyayana Sūtra*.29.12.
21. Acharya Tulsi, , *Jain Siddhānta Dīpikā*, p. 117.
22. *Āvaśyaka Sūtra*, verse, 103.
23. Acharya Tulsi, *Candana Kī Cuṭakī Bhalī*, p.45.
24. *Anagāradharmāmṛta*.VIII.62; *Mūlācāra*.620, 622, 626.
25. Sadhvi Kanchan Kumari, *Ṣaḍāvaśyaka :Ātma Śuddi Ki Prakriyā* ,p.199.

26. *Daśvaikālika Sūtra*, 2.10,11.
27. *Jñātādharma-kathā Sūtra*,1.190-195.
28. *Upāsakadasā Sūtra*,1.79-81
29. Sadhvi Kanchan Kumari, *Ṣaḍāvaśyaka:Ātma Śuddhi Kī Prakriyā* ,p.200.
30. Acharya Tulsi, *Candana Kī Cuṭakī Bhalī*,p.30, Sadhvi Kanchan Kumari, *Ṣaḍāvaśyaka :Ātma Śuddhi Kī Prakriyā*, p. 201.
31. *Jñātādharma-kathā Sūtra*, 8.18.
32. *Uttarādhyayana Sūtra*, 8.17-20.
33. Sadhvi Kanchan Kumari, *Ṣaḍāvaśyaka: Ātma Śuddhi Kī Prakriyā*, p.201.
34. Ibid, p. 197.

Bibliography

Primary Texts

- Ācārāṅga-sūtra*, Ed. Yuvacharya Mishrimalji 'Madhukar', with original Text, Hindi version, Notes, Annotation and Appendices, Beawar : Shri Agam Prakashan Samiti,1998.
- Āvaśyaka Sūtra*, Ed. Yavacharya Mishrimalji 'Madhukar'.With original Text, Hindi version, Notes, Annotation and Appendices, Shri Agam Prakashan Samiti. Beawar, 2001.
- Bhagavatī Sūtra*, Ed. Mishrimalji Maharaj, Beawar : Agam Prakashana Samiti.1991.
- Aṅgāra Dharmāmṛta*, Ed. Kailash Chandra Shastri, Delhi : Bharatiya Gyanpith Prakashan, 1977.
- Dharmāmṛta Sāgāra* of Āśādhara, Ed. Kailash Chandra Shastri, Delhi : Bharatiya Gyanpith Prakashan, 1978.
- Mūlācāra of Vaṭṭakera*, Ed. Kailash Chandra Shastri, New Delhi : Bharatiya Gyanpitha Prakashan, 2000.
- Tulsi, Acharya, *Jaina Siddhāntadīpika*, Sardarsahar : Adarsha Sahitya Sangh, Churu, 1950.
- Uttarādhyayana Sūtra*, Ed. Muni Mishrimalji Maharaj, Trans. Muni Rajendra, Beawar : Agam Prakashan Samiti.1991.

80 : Śramaṇa, Vol 66, No. 1, January-March 2015

Upāśākadaśāṅga-Sūtrā, Ed. Mishrimalji Maharaja Madhukara. With text, Hindi translation, Classified list of topics and various appendices, Shri Agama Prakashan Samiti, Beawar, 1980.

Secondary Books

Yogasūtra of Hemacandrācārya, Ed. Surendra Bothara and trans. S.Gopani, Jaipur : Prakrit Bharati Academy. 1st Edn. 1989.

Glassenapp, Helmuth, *Doctrine of Karma in Jain Philosophy*. :P.V. Research Institute, Varanasi, 1991.

Glassenapp, Helmuth, *Jainism : An Indian Religion of Salvation*, Delhi : Motilal Banarasidass, Delhi, 1984.

Mahaprajna, Yuvacharya, *Jaina Dharma Ke Sādhanā Sūtra*, Delhi : Adarsh Sahitya Sangh, Churu, 2001.

Sadhvi Kanchan Kumari, *Ṣaḍvāśyaka: Ātma Śuddhi Kī Prakriyā*, Jain Vishva Bharati, Ladnun, 2011.

Śrāvakācāra and Pañcācāra

H. Khushalchand

Introduction

It is important to understand the significance of ancient wisdom. Our ancestors did not have access to the technology that we have today, but they surely led a more peaceful and stress-free life. They were not connected to the vast world through media, Internet, Facebook, etc., but the inner connectivity was vibrant and they led a more meaningful and harmless life. They were guided by inner wisdom which enabled them to lead a compassionate lifestyle and not a destructive lifestyle. They were aware that all life is interconnected. The sound system of ethics grounded in sound metaphysics inspired them to be non-violent, contented, respectful and spiritual. They did not live in a state of illusion that material progress alone can make mankind happy. The spiritual aspect, which held a foremost place in the ancient world, is relegated to an insignificant position today. Hence the problem of improving human nature is no doubt the most baffling of all modern problems’.

The *Ācāryas*, *Upādhyāyas* and *Siddhas* follow the path of right living, self-realization, self-purification, self-conquer in order to be liberated like the *Jinas* and the *dharma* preached by them is that of non-violence, self-restraint and austerity. Dr. Vastupal Parekh remarks, “Right from its inception, since its revival in 600 BCE, by Lord Mahāvīra, Jainism has championed an all-inclusive spirituality. Development of human potential has no doubt been its main concern, but the welfare and happiness of all living forms have been equally important.” He further says that, “Enabling human spirit to become free and blissful is Jain spirituality. The Jain spirituality blends an experience-based worldview of the universe as a reality, a rational cause and effect-based theory of *karma*, a soul based spirituality, a code of conduct that reveres all lifestyle that preserves our ecosystems, respects differing viewpoints and thus promotes personal and global peace.¹

Jainism encourages spiritual development through cultivation of one's own personal wisdom and reliance on self-control through vows. The five *ācāras* (Pañcācāras) of Jainism—*Jñānācāra*, *Darśanācāra*, *Cāritrācāra*, *Tapācāra*, *Viryācāra* - provide the path for attaining liberation from the cycles of birth and death. Just as in the life of a *Sādhu* such great vows as non-violence constitute the path of renunciation, the *sādhu* must pursue the path of the *Pañcācāra* in order to attain qualities like knowledge, development etc. and a *śrāvaka* can also follow this path to some extent.

Śrāvākācāra

Jainism preached by the *Jina*, consists of Right Belief (samyag-dṛṣṭi or samyaktva), Right Knowledge (samyag-jñāna), and Right Conduct (samyak-cāritra), which together, in proper combination, lead to liberation or emancipation. Right Belief means perfect faith in the six substances (dravyas), seven principles (tattvas), etc., that mainly go to formulate the dogmas of this religion. Right Knowledge means accurate knowledge of all these substances, principles, etc; and Right Conduct, which is based on, or which is to be practised after the accomplishment of the first two. The ethical discipline or code of conduct is prescribed in two separate forms: The first, for the monk, known as *yatyācāra*, and the other for the layman or *śrāvaka*, known as *śrāvākācāra*.

Jainism, originating from the Śramanic way of thought and life, must have had its followers in due course of time. What was the exact nature of the religion-spiritual and social life of the laity in the earliest period of its history? We have no means to ascertain. But this much is certain, that the *Jina* admitted the laity along with their natural inability to adopt a discipline of complete self-control and harder modes of spiritual pursuit; and, hence, the lay life was designed as a stage preparatory to the ascetic life for the realization of the highest goal, and at the same time, making it complementary to the monastic life. This is evident in the nature of the social organization, i.e., the *Jaina-saṅgha* with its prescribed two-fold code of conduct; one for the monastic life, and the other for the lay life, the outlines

of the second of which came down in the *Upāsakādhyayana*, the lost 7th *aṅga* according to the Digambara tradition² and the extant *Uvāsagadasāo* of the *Ardhamāgadhī* canon of the Śvetāmbaras, and further, given some place in the early works like the *Cāritra-prābhṛta* of Kundakunda and the *Tattvārtha-sūtra* of Umāsvāmī. Thereafter, with the passage of a period, of about a thousand years after Lord Mahāvīra, the code of conduct for the laity i. e., the *Śrāvakācāra*, assumed a shape of separate entity in independent treatises on the subject such as the *Ratnakaraṇḍaka Śrāvakācāra* and the *Sāvayaṇṇatti*. Then, meeting with the expedients of marching time and expanding regions influenced by some contents of the Puranic works, by authoritative sayings of great *Ācāryas*, and by customs and manners prevalent among the neighbouring people with other religious traditions.³

The term *Śrāvaka* is commonly used to designate a layman or *Śrāvaka*. Several etymologies, some quite elaborate, are given for this term. The aggregate of all such etymologies could be as follows: One, who sincerely and regularly listens to the teachings and preachings of the *Jina* through the monk for the good of one's own self, is a *Śrāvaka*. Other alternate terms found in usage are: *Śramaṇopāsaka*, its abbreviation *upāsaka* (one who adores the monk and his teachings), *sāgāra*, *gṛhī*, *gṛhastha* (one who practices the prescribed code of conduct by staying at home), *desasaṅyamī* (one who is partially self-restrained and indifferent to worldly attachments), *śraddhā* (one having faith in the words of the *Jina* as taught by the monk) etc. In good old days, the Jain layman was known as *Śrāvaka*. A corrupt form of this word viz., *sarāvaga* or *sarāvagī* was in wide currency in later days. Today he is called a Jaina only.⁴

Similarly, *Śrāvakācāra* is the commonly used term for the code of conduct prescribed for the layman or *Śrāvaka*. The other alternate terms found in usage are: *upāsakācāra*, *Śrāvaka-dharma* (*sāvaya-dhamma* in Prakrit), *Sāgāra-dharma*, *gṛhastha-dharma*, etc. Some of the terms used for the monastic code of conduct are: *anagāra-dharma*,

yati-dharma etc, besides others like *yatyācāra*, *muni-dharma*, *sādhu-dharma* etc. Just as in the life of a *sādhu* such great vows as non-violence constitute the path of renunciation, the *sādhu* must pursue the path of the *Pañcācāra* in order to attain qualities like knowledge, development etc. and a *Śrāvaka* can also follow this path to some extent.

A *Śrāvaka* is one who listens (śṛṇoti) teachings of the *Jinas* or one who has recourse faith (śraddhalutam śrati) or one whose sins flow away from him (śravantî yasya pāpam). He is called a *Śramaṇopāsaka*, *śramaṇa* refers to the *Jina* and *upāsaka* means one who adores the monks of their teachings with the *nāma*, *sthāpanā*, *dravya* and *bhāva*.⁵ The types are:

i) *Nāma-śrāvaka*: One who is a Jain in name only, just as a poor slave may bear the appellation of god.

ii) *Sthāpanā-śrāvaka* : The statue of a layman or *śrāvaka*.

iii) *Dravya-śrāvaka* : One who carries out the rites obligatory for a Jain but who is empty of spirituality

iv) *Bhāva-śrāvaka* : a believing Jain

In fact a person does not become a true Jain unless and until he requires the minimum comprehension of the essential nature of soul and non-soul together with their mutual relationship, and develop a firm faith, based on his own transcendental experience of the reality, which equips him with a correct attitude and proper perspective.

Three fold divisions of the Śrāvaka: Some *ācāryas* such as Āśādhara and Medhāvin have a threefold division of the *śrāvaka* :

i) **Pākṣika** : A layman or *śrāvaka* who has an inclination (pakṣa) towards *ahimsā*, possesses *samyaktva* and practice the *mūlaguṇas* and the *vratas* and perform *pūjā*.

ii) **Naiṣṭhika** : One who pursues his path upwards through the *Pratimās* till he reaches the eleventh. At his culminating point (niṣṭha) he quits the household life and practices the tenfold *dharma* of the ascetic. It was seen that if he back slides, he is down-graded, the state of a *pākṣika*.

iii) **Sādhaka** : One who concludes (sādhya) his human incarnation in a final purification of the self-carrying out *sallekhanā*.⁶

Āśādhara gives a classification of the *śrāvaka* based on his progress through the *Pratimās*.

i) **Jaghanya** (least satisfactory) : first to sixth *pratimāgra*

ii) **Madhyama** (next best) : Seventh to ninth *Pratimās-varṇa*

iii) **Uttama** (best) : tenth and eleventh *pratimā-bhikṣu*⁷

According to the Śvetāmbara tradition, the basic requirement to be a Jaina *śrāvaka* is the renunciation of the seven *kuvyasanas* viz. gambling, meat eating, consuming alcohol, adultery, theft, hunting and visiting prostitutes. While according to Digambaras, *śrāvaka* has to follow eight *mūla-guṇas* i.e., to refrain from taking meat, wine, honey and five kinds of ficus.⁸

Significance of Pañcācāra in Śrāvākācāra

Jainism encourages spiritual development through cultivation of one's own personal wisdom and reliance on self-control through vows. Just as in the life of a *sādhu* such great vows as non-violence constitute the path of renunciation, the *sādhu* must pursue the path of the *Pañcācāra* in order to attain qualities like knowledge, development etc. and a *śrāvaka* can also follow this path to some extent. They are:

- (1) Jñānācāra - relating to knowledge.
- (2) Darśanācāra - relating to faith.
- (3) Cāritrācāra - relating to character.
- (4) Tapācāra - relating to austerities.
- (5) Vīryācāra - relating to energy.

By observing these *ācāras* (practices) the soul develops knowledge, faith, character, austerities and energy within.

(I) Jñānācāra

The eight types of *jñānācāra* are:

- (1) Kāla : This means studying the scriptures only at the right times, not other than that like noon, midnight etc. which are not proper for carrying out spiritual studies. Though nowadays *śrāvakas* have their own busy schedule but they should spare time for studying the scripture at right time.
- (2) Vinaya : *Śrāvaka* should show politeness to the Gurumahārāja, the enlightened one and to substances that bring knowledge.
- (3) Bahumāna : *Śrāvaka* should have the highest reverence for the Gurumahārāja, scholars etc.
- (4) Upadhāna : Carrying out *Yogodvāhana* i.e. spiritual exercises for attaining authority over the *sūtras* and their implications.
- (5) Anihnava : A *śrāvaka* should not condemn the giver of knowledge and knowledge, even though the giver is younger or not popular and also should not hide his name.
- (6) Vyañjana : Pronouncing proper sounds and uttering properly the meaning, the *sūtras*, their words etc. and reading clearly and perfectly.
- (7) Artha : Thus pronouncing *sūtras* in accordance with their meaning, inner meaning, essence as they are and not giving any imaginative meaning or assumptions.
- (8) Tadubhaya : Remembering them; contemplating on them and assimilating them i.e. read the *sūtras* clearly, listen and teach clearly.⁹

(II) Darśanācāra

Darśana means to see but here it means faith. *Darśana* is of two types- *Samyagdarśana* and *Mithyādarśana*. Having a view of anything

that which is as it is, is *Samyagdarśana*. There is no *Mithyādarśana* in *ācārya* and they are full of *Samyagdarśana*. The *śrāvaka* should also follow eight types of *Darshanācāra* which are as follows:-

- (1) Niḥśaṅkita : A *śrāvaka* should believe in the words of the *Jina* and *śāstra* without any doubts. Due to the little capacity of our mind if we are unable to understand the depth of the *śāstra*, we should not have doubt on the *śāstra*.
- (2) Niḥkāṅkṣita : A *śrāvaka* should not be attracted towards false *Tapa* and false *dharma* and festivals at any time like animal sacrifices etc.
- (3) Nirvicikitsā : A *śrāvaka* should carry out *dharma* without entertaining even the slightest doubt in its efficacy. Good deeds will always give good results without any doubt.
- (4) Amūḍhadrṣṭi : A *śrāvaka* should not be fooled or stupefied by false theories, the miracles of false Gods. One must also think thus “What is the use of this when it does not have the basic *Samyagdarśana*.”
- (5) Upabṛhaṇa : A *śrāvaka* should be encouraging the activities relating to *Samyagdrṣṭi* like knowledge, *tapa* etc.
- (6) Sthirīkaraṇa : A *śrāvaka* should help those who cannot carry out spiritual activities on account of their sorrows and destitution. He should Render help to them with body and mind and funds.
- (7) Vātsalya : A *śrāvaka* should have a genuine affection for the fellow members of one’s faith and treating them as one’s dearest relatives. Helping the needy like sages, scholars and aged people with affection for their needs like the affection cow has for the calf.

- (8) Prabhāvanā : A *śrāvaka* should do such noble activities that will make popular the *Jina Dharma* among people and reduce *Mithyātva*¹⁰.

(III) Cāritrācāra

A *śrāvaka* should escape from the defilement of *cāritra* by following the *guṇas*. This includes five *samitis* and three *guptis*, which are termed as *aṣṭa-pravacana-mātā*. The monk has to strive a great deal for the protection and maintenance of Right-conduct. Five *samitis* i.e. modes of vigilance means right action, and three *guptis* i.e. mode of self-restraint means act of protecting are the main rules of conduct which a *śrāvaka* can also follow to some extent.

Among *samitis*, the first is the *Iryā-samiti* i.e. act of walking cautiously which implies that a monk has to place his feet very carefully. He should walk with an aim in mind to achieve knowledge, intuition and Right-conduct and not otherwise. He should walk at day and not at night. He should watch carefully and should look down and watch four steps ahead while walking. He should walk only out of necessity. *Śrāvaka* should avoid travelling and walking unnecessarily.

Second is *Vacana-samiti* i.e. rules of right speaking. This rule prescribes that the monk has to speak very carefully. He must not speak with anger, proudly, cunningly, motivated with greed, with verbal tactics out of fear and also he must not brag. Moreover, it is ordained that a monk must never use abusive language. He should address every one with sweet word as “*mahānubhāva, devanupriya*, etc. and a *śrāvaka* can also follow the same.

Third is *Eṣaṇā-samiti* i.e. proper search for food, which implies that, the monk should be very scrupulous to search for food in right manner. He has to avoid forty-two faults in this respect. Moreover, he cannot open and enter the closed door of a householder. He should not move out when it rains. In such state of affairs he would peacefully sit at his place and observe religious rites and penances and a *śrāvaka* can follow these virtues during *gocarī dāna*.

Fourth is *Ādāna-nikṣepa-samiti* which consists in receiving and keeping of things necessary for religious exercises, after having carefully examined them. Fifth is *Utsarga-samiti* which requires performance of the operations of nature (that is nature's calls) in an unfrequented place. Nowadays we waste so much water by flushing the toilet. A new technique of washbasin connected over the flush tank will reduce the wastage of water.

Gupti is defined as control, curbing well every kind of activity (samyag -yoganigraho -guptiḥ). The *guptis* are three: *mano-gupti*, *vacana-gupti* and *kāya-gupti*.

The first relates to the control of mind by preventing it from wandering into the forest of sensual pleasures. A monk or *śrāvaka* ought to restrain his mind and should never entertain thoughts that would bring misfortunes to other beings.

The second *vacana-gupti* requires to control one's speech from lying or telling mixed falsehood. A *śrāvaka* should not use abusive language or language that is likely to be harmful to others. He should observe silence and not say anything ill about others.

In the use of his body, i.e. *kāya-gupti*, he ought to be careful while standing, moving or lying down so that he does not cause misery to or destruction of any creature. There should be no room for evil actions, thoughts or bodily activity all the activities of a monk or *śrāvaka* ought to be for the good of him and of others.¹¹

(IV) Tapācāra

In *tāpācāra*, *nirjarā* (dissipation of karmas) is very important. *Nirjarā* means destroying the *karmas* and trying to eradicate them from the soul. Just as a mango falls down when it is fully ripe or when it is made ripe, so also the dropping of the roots of *karma* is called *nirjarā*. A *sādhu* or a *śrāvaka* has to follow *Tapācāra* for destroying the *karmas*. It is of two types- *Akāma-nirjarā* and *Sakāma-nirjarā*.

Akāma-nirjarā means experiencing and bearing with sorrows without violation and the *karmas* losing their roots naturally. *Sakāma-nirjarā* means the dropping of the roots of sins i.e. our desires by means of

our *Tapas* and also to destroy them. When their condition is ripe, they emerge to the surface and exhaust themselves. *Karmas* losing its roots are called *svataḥ* or self-destruction. The destruction of *karmas* by means of *Tapas* is called *Upāyanirjarā*. *Karmas* have to be destroyed only by means of *Tapas* or austerities. It must be remembered that if you are bearing with hunger, thirst, violence, involuntarily, *karmas* end by exhausting themselves then it is *Akāma-nirjarā*. If we destroy *karmas* by means of willed endurance, endeavours and austerities, with the idea of achieving spiritual purification by carrying out austerities like fasting etc. it is called *Sakāma-nirjarā*.

Tapas or austerities are of two kinds: (A) External and (B) Internal. External austerities are those which are visible to the outside world and which cause hardship outwardly. The internal austerities are intended to shake and destroy the internal, impure propensities. The Jain *dharma* expounds six kinds of each of these two; so there are twelve kinds of austerities or *Nirjarās*.¹²

(A) External: The six kinds of external austerities: *Anaśana*, *Uṇodarī*, *Vṛttisaṅkṣepa*, *Rasatyāga*, *Kāyakleśa* and *Samīlinatā*

1. *Anaśana* : Discarding food. That means performing *Upavāsa*, *Ekāsana*, *Biyāsana*, *Cauvihāra*, *Tivihāra*, *Abhigraha*, etc., which a *śrāvaka* should take *vrata* and follow it, even a single day should not go without any *vrata*.
2. *Uṇodarī* : Eating a little less than what one requires so that his austerities may achieve success. This is also a kind of austerity which a *śrāvaka* should have the intention to follow.
3. *Vṛtti Saṅkṣepa*: Limiting the number of items to be eaten out of the items served. Taking a vow that one would not eat certain items other than some, like limitation of fruit and vegetable to the extent of 100 varieties instead of the total of 24 lakh varieties.

4. Kāyakleśa : Bearing with the severities of loch (removing hair with the hand), traversing on foot, impediments and difficulties. *Upasarga* here means the impediments caused by gods, human beings and animals. *Śrāvaka* should bear the pain of severities.
5. Rasatyāga : *Śrāvaka* should renounce the attachment for taste in food and drinks.
6. Saṁlīnatā : Preventing the body, organs, the voice, the senses and the mind from engaging themselves in evil propensities and restraining them.

(B) Internal: The six kinds of internal austerities: *Prāyaścitta*, *Vinaya*, *Vaiyāvacca*, *Svādhyāya*, *Kāyotsarga* and *Dhyāna*. *Prāyaścitta* means atonement for sins.

1. Prāyaścitta: *Śrāvaka* can self scrutinize his spiritual purification; the purification of the *citta* and the destructions of *karmas*. There are 10 kinds of *Prayaścittas*¹³:

(i) *Ālocanā*: Self criticism revealing to the Gurumahārāja the propensity that prompted one to commit sins. *Śrāvaka* has to make *Ālocanā*.

(ii) *Pratikramaṇa*: Discarding sins by means of genuine repentance (*mityāduṣkṛta*-may my sins be falsified). *Śrāvaka* can pray for his sins being falsified.

(iii) *Tadubhaya*: It is combination of *Ālocanā* and *Pratikramaṇa*. When an eradication of a defect needs both, there comes *tadubhaya*.

(iv) *Viveka*: Discarding unnecessary and unacceptable food and other substances. *Śrāvaka* should not purchase unnecessary substances.

(v) *Vyutsarga*: Carrying out a *kāyotsarga* to avoid impediments to the study of *sūtras* or *pratikramaṇa* or the pursuit of knowledge. *Śrāvaka* can move forward towards pursuit of knowledge.

(vi) *Tapa*: The austerities and penances suggested by the Gurumahārāja as atonement for sins. *Śrāvaka* can follow austerities.

(vii) Cheda: In order to purify the breaches reducing *Cāritraparyāya*.

(viii) Mūla: After having acted ignobly eradicating all the *Cāritraparyāyas* and again taking the great vows.

(vix) Anavasthāpya: Discarding all relations, even conversations with a person who has gone wrong or keeping him beyond certain barriers.

(x) Pārāñcika: Outside the group without the dress of a muni, staying for only a certain time in disguise.¹⁴

2. Vinaya (Politeness): (1) Devotion is the form of service. (2) internal love and honour. (3) adoration. (4) discarding culmination. (5) discarding unpleasantness and unhappiness.

Thus there are these seven types of *Vinaya* (politeness) - 1. *Jñāna-vinaya*, 2. *Darśana-vinaya*, 3. *Cāritra-vinaya*, 4. *Mana-vinaya*, 5. *Vacana-vinaya*, 6. *Kāya-vinaya* and 7. *Lokopacāra-vinaya*. These are different from the principles of *jñāna*, *darśana*, *cāritra*, *manoyoga*, *vacanayoga*, *kāyayog* and *lokopacāra*. The following are the special kinds of politeness which a *śrāvaka* should follow:

(a) *Jñāna-vinaya*:

(1) Treating knowledge and those who have acquired knowledge with devotion.

(2) Honouring them.

(3) A noble contemplation on what the *sarvajña* has said.

(4) Observing the principles like Yoga, *Upādāna*, one must also acquire knowledge.

(5) Putting the knowledge into practice. These are the five kinds of *Jñāna-vinaya*.

(b) *Darśana-vinaya*: *Darśana-vinaya* means being polite in rendering service etc. to those who possess the virtues of *Samyagdarśana*. It is of two kinds-(i) *Suśrūṣa-vinaya* and (ii) *Anāśātānā-vinaya*.

(i) *Suśrūṣa-vinaya*: This is of 10 kinds (1) *Satkāra* (salutation); (2) *Abyutthāna* (getting up by way of honouring someone); (3) *Sanmāna* (taking the things in their hands); (4) *Āsanābhigraha* (arranging a seat etc.); (5) *Āsanānupradāna* (taking his cloth used as *āsana* and

putting it as a seat); (6) *Vandana* (salutation); (7) *Añjali-pragraha* (Folding the hands); (8) *Svāgatārtha* (After he comes, going to bring him near); (9) *Paryupāsana* (If he is sitting, adoring him); (10) Bidding farewell.

(ii) *Anāśātanā-vinaya* : The 45 kinds of *Anāśātanā-vinaya*-

(1) *Tīrthaṅkara*; (2) *Dharma*; (3) *Ācārya*; (4) *Upādhyāya* (Elderly in age and knowledge); (5) *Sthavira* (elder); (6) *Kula* (progeny of the same tradition); (7) *Gaccha* (a collection of many *kulas*); (8) *Śaṅgha* (a collection of many *gacchas*); (9) *Sāmbhogika* (Sādhus with whom *bhikṣā* etc. is taken); (10) *Kriyā* (there is the other world; the soul exists stating such things); (11) to (15) the 5 kinds of knowledge like *Matijñāna*, *Śruta-jñāna* etc.

(1) *Aśātanā* (displeasure); (2) devotion and honour for them; (3) adoring extraordinary virtues. Showing these 3 kinds of politeness to those, 15 kinds of *Yogas*: so, $15 \times 3 = 45$.

(c) *Cāritra-vinaya*: To have five kinds of faith in *Cāritra*. Acting according to them and stating them. $5 \times 3 = 15$. A *Śrāvaka* should follow the 15 kinds of *Cāritra-vinaya*.

(d) *Mana-vinaya*, (e) *Vacana-vinaya* and (f) *Kāya-vinaya* displaying politeness to Gurumahārāja etc. by means of the 3 *yogas* namely the activities of the mind, body and speech. Avoiding inauspicious propensities and engaging in auspicious propensities.

(g) *Lokavyvahāra-vinaya*: This is of 7 kinds well known in the world to be shown to Gurumahārāja etc. (1) staying near him; (2) abiding by his wishes; (3) trying to repay his benefactions with gratitude; (4) showing devotion to him by giving food etc., because of his virtues like *Jñāna*; (5) taking care of him and helping him in times of sorrow, sickness etc.; (6) thinking of the right time and place to serve him; (7) being obedient and helpful to him in all things.¹⁵

3) *Vaiyāvṛtya*: rendering service to the *Ācārya*. The *Sthaviras* (elders) the *tapasvīs*, the sick *sādhus*, the new *sādhus*, the fellow members of one's faith (*kula*, *gaccha*, *śaṅgha*). A *śrāvaka* should give them food, dress and utensils whenever they are in need of it.

4) Svādhyāya: (scriptural studies): It means pursuing knowledge and meditation. It is of five kinds which should be strictly followed by *śrāvaka* :

- (1) Studying and explaining the *sūtras* and their meanings *Vācanā*.
- (2) Clarifying doubts regarding one who has not understood it *Prechanā*.
- (3) *Parivartanā*: repeating the *sūtra* and the meaning one has learned.
- (4) *Anuprekṣā*: contemplating on the *sūtra* and its meaning.
- (5) Listening to *Dharmakathās* engaging in spiritual discussions, enquiries, preaching etc.

5) Dhyāna (meditation or contemplation): This is of four kinds *Ārtra, Raudra, Dharma* and *Śukla*.

Dhyāna means meditation on something with an absolute concentration of mind. It is of two kinds: auspicious meditation and inauspicious meditation. Inauspicious meditation is not an austerity. It does not destroy *karma*. It is an *āśrava* by means of which new *karmas* enter the soul. An auspicious meditation is an austerity. It can destroy *karmas*. Incidentally, the inauspicious meditations will also be described so that *śrāvaka* may escape from them by keeping them off. The point is that meditations are tremendously efficacious. For example: Prasanna Chandra Rajarshi on account of his evil meditations gathered the sins that forced him to go to the seventh hell. But when he began auspicious meditations he could ascend straight up to the supreme level of *Kevalajñāna*.

The inauspicious meditation is of two kinds namely *Ārtra-dhyāna* and *Raudra-dhyāna*. Each of these two has four kinds which should be avoided by the *śrāvaka*.

In *Ārtra-dhyāna* (1) One meditates on these ideas. "How can I get things which I like? How can I remain with it?"

(2) "How can I get rid of undesirable things? How can I avoid them?" To ponder over these things. (3) Thinking of getting rid of or remedying agony and malady.

(4) *Nidāna*: that means a painful fear regarding materialistic pleasures.

In **Raudradhyāna**:(four types- *Himsānubandhī*, *Mṛṣānu-bandhī*, *Steyānubandhī* and *Saṅkṣāṇānubandhī*). *Raudradhyāna* means carrying out cruel contemplations on violence, falsehood, stealing, robbery and such ignoble things. A *śrāvaka* should try to avoid *Ārtradyāna* and *Raudradhyāna*.

The auspicious meditations are of two kinds (1) *Dharma-dhyāna*; (2) *Śukladhyāna*, which a *śrāvaka* should follow.

(I) **Dharmadhyāna** is of four kinds namely- *Ājñā-vicaya*, *Apāya-vicaya*, *Vipāka-vicaya* and *Saṁsthāna-vicaya*.

(1) *Ājñā-vicaya*: “The commands of the *Jina* and the words of the *Jina* are extraordinary and beneficial to all *jīvās*” this kind of thinking.

(2) *Apāya-vicaya*: Terrible calamities can result from attachment, hatred, indifference, ignorance and vowlessness”; thinking of these things.

(3) *Vipāka-vicaya*: “Happiness and sorrow are the result of the *Vipaka* or the ripening of our noble and ignoble *karmas*” thinking thus.

(4) *Saṁsthāna-vicaya*: Meditating with concentration on the 14 *Rājālokas* comprising the upper, the lower and the middle worlds.

(II) **Śukladhyāna**: The four kinds of *Śukladhyāna*:

(1) *Prthaktva-vitarka-savicāra*: *Prthaktva* = means differences- meditating on the various substances and their mental differences, *vitarka* = means 14 *Purvās* or *Śrutās*, *savicāra*= contemplation on minute-minute activities of substances, sounds and the three *yogas*. The *Śukladhyāna* comprises these three contemplations.

(2) *Ekatva-vitarka-savicāra* : *Ekatva* = not mutual but depending only on one substance, *avicāra* free from what is said already. These two kinds of meditations were carried out by masters of *Āgamas*.

(3) *Sūkṣma-kriyā-apratipāti*: This is a spiritual reaction born out of subtle *yoga* of the body at the time of the *jīva* reaching *mokṣa* which

does not perish; which is *Apratipāti* and which prevents at that time the activities and the propensities of body and mind.

(4) *Vyuchchinna-kriyā-anivṛtti: Sūkṣmakriyā Yoga* is destroyed; it is the Mountain stage. On account of the destruction of all *karmas*, *Mokṣa* is attained.¹⁶

6) Vyutsarga: This is a great internal austerity. According to this, Śrāvaka should recite the *Anāśakta-sūtra* and fix firmly his body by means of a place, his speech by means of silence and his mind by means of a sublime meditation. After performing a perfect meditation by means of a vow one must remain without any activity of the body or the speech. This destroys all *karmas* like *Antarāyas*. *Kāyotsarga* is a kind of *Vyutsarga*. This is of two kinds: (1) of substances; (2) of thoughts.

The Physical *Vyutsarga* is of four kinds:

(1) *Gaṇatyāga*: Leaving one group with the permission of the Gurumahārāja and joining another group or going away leaving one's group for the attainment of such things as *jñānakalpa*.

(2) *Dehatyāga*: This implies carrying out *Kāyotsarga*, *Anaśana* (antim pādapopagamana) at the proper places discarding the conscious and the inert substances,

(3) *Upadhi*: Discarding defective or excessive clothes, vessels etc.

(4) *Bhattapāna*: Discarding food gradually to complete according to prescriptions.

Bhāva-vyutsarga (Psychic *Vyutsarga*): Means discarding passions, *karmas* and *Samsāra*.

(V) Viryācāra:

This must be carried out with body, mind and speech concealing one's abilities with the greatest enthusiasm and awareness in order to attain spiritual energy and elevation. The 8 *ācāras* of *Jñāna*, 8 *ācāras* of *Darśana*, 8 *ācāras* of *cāritrācāra* and 12 *ācāras* of *Tapa*, all together comes to 36 *ācāras*. Performing them all the energy obtained is called as *vīrya*.¹⁷ Śrāvaka should always try to get more and more

vīraya from the *ācāras* and follow the path explained by the Tirthaṅkaras.

Pañcācāra and Jain Lifestyle

When the soul sheds its karmic bonds completely, it attains divine consciousness. Those who have attained *mokṣa* are called *siddhas*, while those attached to the world through their *karma* are called *Saṃsārin*. Every soul, may be a monk or *śrāvaka* has to follow the path, as explained by the *Jinas* and revived by the Tirthaṅkaras to attain complete liberation or *Nirvāṇa*. The commonly accepted definition of the term “God” is of a being who rules and created the universe. Jains do not believe in a creator deity that could be responsible for the manifestation, creation, or maintenance of this universe. The universe is self-regulated by the laws of nature. Jains believe that life exists in various forms in different parts of the universe including earth. Jainism has extensive classification of various living organisms including micro-organisms that live in mud, air and water. All living organisms have soul and have ability to perceive pain therefore, need to be interacted without causing much harm i.e. *Ahiṃsā* (non-violence).

Just as in the life of a *Sādhu* such great vows as non-violence constitute the path of renunciation, the *sādhu* must pursue the path of the *Pañcācāra* in order to attain qualities like knowledge, development etc. and a *śrāvaka* can also follow the path of renunciation. By observing these *ācāras* (practices) the soul develops knowledge, faith, conduct, austerities and energy. A *śrāvaka* should move towards the path of *nirvāṇa* and not *nirmāṇa*. *Karmas* have to be destroyed only by means of *Tapas* or austerities. When the *karmas* end by exhausting themselves then it is called *Akāmanirjarā*. If we destroy *karmas* by means of willed endurance and by means of endeavours and austerities, with the idea of achieving spiritual purification and development carrying out austerities like fasting etc, it is called *Sakāmanirjarā*.

The significance of the virtues have been proved all along time and again. The key virtue of non-violence, as explained and taught by

the great tradition of Jain *ācāryas* through their sermons and writings, and as practiced by the laity for centuries together, has imperceptibly percolated in Indian thought and permeated the Indian social order. R. Williams observes ¹⁸ that 'Jainism has strived for centuries to permeate the Indian social order, without challenging it, with the spirit of compassion. The striking features of Indian culture, particularly with its humanity, higher level of kindness and gentleness', ¹⁹ could be, to a considerable-extent, owing to the Jaina contribution through its professed virtues of *Ahimsā* (non- violence) and *Anekānta-dṛṣṭi* (non-absolutistic attitude) etc. The Indian History and particularly those of the History of Karnataka, Tamil Nadu, Gujarat and Rajasthan, are eloquent about the mode and magnitude of such contribution. ²⁰ Vegetarianism, attitude of charity, sense of accommodation and tolerance, which are prominently found among the peoples of these regions even today, hold evidence to this fact taking an peep into the way of living of the present day Jaina laity or *śrāvaka*, would very well encourage our approach. Behind Dr. Annie Besant's impression of the Jaina householder as "quiet, self-controlled, dignified, rather silent, rather reserved" ²¹ etc., lies the effect of these virtues. What could be the reason behind the findings of Dr. V.A.Sangave ²² that comparatively there is found a very small number of criminals among the Jainas and that the habitual criminals are not at all found among them? Moreover drinking habits, as we have observed, are found to the minimum degree among them. It is also interesting to note that recently, the Department of Social Anthropology at the university of Cambridge has organized an International Seminar on the Jainas as a Community, on a major consideration that Jaina community is the only community in the world today that practiced non-violence, to which there was an excellent response from social scientists, social anthropologists and social historians from all over the world. ²³

When we look at the Jaina householders from the point of view of the virtue of limited attachment to worldly possessions, some of the Jaina sterling qualities and business and trade ethics have no parallels in other business quarters in India. It is interesting to note that some

of these qualities, like *nyāya-sampanna-vibhava* (possessed of honestly earned wealth), *pāpa-bhīru* (apprehensive of sin), *sadācāraiḥ kṛta-saṅga* (attached to good moral standards), *vyayam-āyocita kurvan* (spending after properly thinking) etc., are laid down as the constituent qualities of an illustrious householder,²⁴ which must have influenced these merchants all along centuries of years. The explanation of the 35 *Mārgānusārī Guṇas* by Acharya Vijayrajji Maharaja in 2012 for four months during *cāturmāsa* in Kilpauk made a tremendous change in the practice of *guṇa*, *vrata* and *dharma* in all over Chennai.

More over the Lay Doctrine, besides through the virtue of *Parigraha* - *parimāṇa* (limited attachment to possessions), has also kept a fair amount of check on the layman's acquisitive infatuation through the virtue of *dāna* (gift or charity),²⁵ and the virtue of charity, as obtaining even today among the members of the Jaina community, needs no further elucidation. We may point out that through centuries the Jain *ācāryas* have been almost and often imperative on the practice of charity by the laity. In this world, if anybody without *dāna* could be called a *gṛhastha*-householder, then even a bird can be called so, for it too has a house a nest to live in. Jainism thus encourages and cultivates one's personal wisdom, self-reliance and self-control through five *ācārās* i.e. *Pañcācāra* - *Jñānācāra*, *Darśanācāra*, *Cāritrācāra*, *Tapācāra* and *Vīryācāra* which provides the path for attaining liberation from the cycles of birth and death and also provides Social, Ecological and Economic justice.

Conclusion

When Mahāvīra reformed Jainism in 600 BCE, he organized the Jain community into a four-fold *saṅgha* of monks, nuns, laymen, and laywomen (*sādhu*, *sādhvī*, *śrāvaka* and *śrāvikā*) and mandated ascetics to be always on the move helping the laity in their spiritual pursuits. He also endowed the *ācāryas*- the heads of the ascetic orders- with the exclusive authority to interpret the scriptures from time to time. There is a close relationship and mutual dependency between the Jain ascetics and the laity. Whereas the laity depends heavily on

the ascetics for spiritual guidance, the dependency of the ascetic orders on laity for survival is equally heavy. This arrangement is a highly effective mechanism not only of adopting scriptural interpretations to meet the demands of the evolving universe but also to carry the message of change to the masses. Consequently, Jain *ācāryas* and their ascetic orders could become harbingers of the new spirituality, generate the critical mass of awareness needed for activism in ecological, social and economic justice.²⁶ The internal renunciation refers to the emasculation of the passions of anger and the like, while the external one, to the enervation of body. The saint renounces all *Parigrahas* except broom, and pot for water, attains all sorts of external and internal purity, and gives himself to the constant reflection on austerity, knowledge, fearlessness, loneliness and endurance. By abandoning all strengthening juices and accepting only unseasoned and simple meals and practicing the six kinds of external austerities, the saint gradually weakens his body, though he takes care that his internal peace is not disturbed. Of all these methods of depriving the body of strength, the practice of two days fast, three days to five days fast and then light meals have been appreciated. Along with this it is imperative for the saint to remove anger by forbearance, pride by modesty, deceit by simplicity, and greed by contentment and also the *Śrāvaka* in their *cāritra* i.e. *āāvakācāra* should try to follow the *Pancācāra* so that they can be liberated and nowadays we find more and more people engaged in following *Pañcācāra* where by practice of 8 days fast of 1008 people together, 10 days, 15 days and 30 days (*Māskamaṇatapa*) etc. are practiced by *āāvaka* and *āāvika* in India. Jainism encourages spiritual development through cultivation of one's own personal wisdom and reliance on self-control through vows. The five *ācāras* (*Pañcācāras*) of Jainism—*Jñānācāra*, *Darśanācāra*, *Cāritrācāra*, *Tapācāra*, *Vīryācāra* - provide the path for attaining liberation from the cycles of birth and death.

References and select Bibliography

1. Vastupal Parikh Ph.D, *Jainism and the new Spirituality*, p.157
2. *Ṣaṭkhaṇḍāgama*, Part I, p. 102.
3. R. Williams, *Jaina Yoga*, Motilal Banarsidass Publishers,1998, Delhi, Introduction, p. xii
4. Pt. K C. Shastri, *Introduction to Upāsakādhyayana*, p. 58.
5. R. Williams, *Jaina Yoga*, op.cit, intro, p. xii.
6. Ibid.,pp. xvi-xvii.
7. Ibid., Intro., p. xviii..
8. Ibid., pp I-31.
9. Acharya Sri Amolak Rishiji Maharaj, *Jain Tattvaparakāśa*. Sri Amol Jain Jnanalaya. Dhule, p.111-112
10. Ibid, p.113-114.
11. Meena Sakariya, *A Study of Ratna -Traya*, Department of Jainology, University of Madras, p. 216-217.
12. Acharya Sri Amolak Rishiji Maharaj, *Jain Tattvaparakāśa*. Op.cit, p.120-125.
13. *Jaina Dharma men Tapa, Svarūpa aura Viśleṣaṇa*, Mishrimalji, Marudhar Keshari Prakashan Samiti, Jodhpur-Beawar,1972, p 476
14. Acharya Sri Amolak Rishiji Maharaj, *Jain Tattvaparakāśa*. Op.cit, p.120-125.
15. Ibid
16. Ibid
17. Ibid
18. Devasenācārya, *Sāvayadhammadohā*, 10th century, in verse 76
19. R. Williams, *Jaina Yoga*. Op. cit., Introduction p. xix.
20. Prof. A. L. Basham, *The Wonder that was India*, Golden Jubilee Pub. Introduction by Thomas Trautmann, p. 9
21. Dr. J. P. Jain, *Bhāratiya Saṁskṛti*, The Jaina Sources of the History of India.
22. Dr. V. A. Sangave, All India Conference of Prakrit and Jaina Studies, Varanasi, Jan. 1988. p. 29.
23. *Jaina Community*, pp. 340-341.

102 : Śramaṇa, Vol 66, No. 1, January-March 2015

24. (i) Dr. V. A. Sangave, *All India Conference of Prakrit and Jaina Studies*, Varanasi, Jan. 1988.

25. (i) Hemacandra, *The Yogaśāstra*, English translation by Prof. Dr Olle Qvarnström 56.

(ii) Pt. Kailas Chandra Shastri, *Jaina Dharma*, Chaurasi Mathura, 1985, p. 192.

26. Vastupal Parikh Ph.D., *Jainism and the new Spirituality*, op.cit p.154

Select Bibliography

1. *Jaina Yoga* by R. Willams

2. *Jain Tattvaprakāśa* by Acharya Sri Amolak Rishiji Maharaj

3. *Jainism and the New Spirituality* by Dr. Vastupal Parekh

4. *A Study of Ratna-Traya* Thesis by Meena Sakariya.

5. *Upāsagadasāṅga Sūtra*

6. *Ratnakaraṇḍa-śrāvaka-cāra*

7. *All India Conference of Prakrit and Jaina Studies* by Dr. V. A. Sangave.

पार्श्वनाथ विद्यापीठ समाचार

Demise of Shri B. N. Jain : A Great Loss to the Jain Community

Shri B. N. Jain passed away on 19 January, 2015 at Faridabad. He was a person of rare caliber, a personality with literary sensitivity, and a social guide. Shri B. N. Jain was born on 8th November, 1918 to Lala Jagannath Ji Jain family in Gali Bhavadya near Bajar Dholandas of Amritsar. He was grand son of Shri Jagannath Jain and second son of Lala Harjas Rai Jain who were well known for their contribution in the service of Punjab Jain Samaj. After High School, he was admitted to Forman Christian College, Lohor. In 1936, he joined Banaras Hindu University for his Engineering education but due to weak health he returned to Mughalpura, Lohor. He did his graduation in Machanical Engineering with First Division in 1941 from Punjab University, Lohor. At the time of the establishment of P. V. Research Institute today known as Parshwanath Vidyapeeth, he was in B. H. U.

He was married with Shakuntala Rani Jain beloved and eldest daughter of Sheth Mohanlalji Jain, Kasur. From the beginning Bhupendra Nathji used to be in regular touch with Jain a monks. Regular contact with monks nourished his spiritual urge. He served more than twelve Government and Private Institution in different capacities. In his noble guidance his family got great success in business community by establishing the companies like Nuchem Plastic, Ltd, Nuware India Ltd.; Barar Lions Button Pvt. Ltd. so on and so forth.

He made an in-depth study of Jainism and played an instrumental role in the upliftment of Jain Society by establishing the Paramarth Trust. He was a great social worker. He was President of Faridabad Jain Sangh for several years. He was President of Faridabad Industries Association from 1975 to 1977. During his tenure an

International Conference was organized which was inaugurated by the then President of Indian Republic, Dr. Fakhruddin Ali Ahmed. He was President of National Association for the Blind and received the National Award for the outstanding contribution to the cause of Blinds. He was instrumental in setting up the Mahavira International Hospital in Faridabad in the property of Jain Sangh. He lived a full life and had the satisfaction of having one son Prathmesh Barar, two grandsons Akhil and Pranav and two great grandsons Advay and Arav.

He was Hon. Secretary of Parshwanath Vidyapeeth from 1975 to 2000. In his leadership, Vidyapeeth witnessed all around development. Parshwanath Vidyapeeth family pays tribute to this great Jain personality. For Parshwanath Vidyapeeth, Shri B. N. Jain Sahab was an inspiration. Today when he is no more, his sweet memories are with us. Hearing the sad news of demise of Shri B. N. Jain every member of Parshwanath Vidyapeeth was stunned and grieved. A condolence meeting was called and Institute was closed after paying him homage for the day.

Chaired the Session of National Seminar

Dr. S.P. Pandey, Joint Director of Parshwanath Vidyapeeth, Chaired the second day session of National Seminar on '*The Role of Ethical Virture and Green Technology to Build a New Social Order*' from 21st to 22nd March, 2015, organized by T.D. P.G. College Jaunpur, Under his Chairmanship more that six scholars presented their papers related to the main theme. Dr. Pandey also presented his paper in the seminar. The seminar was sponsored by University Grants Commission.

शोध-पत्र वाचन

डॉ० राहुल कुमार सिंह, रिसर्च एसोसिएट, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, ने 'संस्कृत के आयुर्वेद-साहित्य के विकास में जैनाचार्यों का योगदान' विषयक शोध-पत्र प्रस्तुत किया। यह शोध-पत्र भोगीलाल लहेरचन्द

इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, नई दिल्ली एवं दिल्ली संस्कृत अकादमी, दिल्ली सरकार के संयुक्त तत्वावधान में २७-२९ मार्च २०१५ तक आयोजित संस्कृत वाङ्मय के विकास में जैन परम्परा का अवदान विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत किया गया।

अन्तर्धर्मीय परिषद् एवं मैत्री भवन द्वारा आयोजित विश्व धर्म के विविध आयाम :

अन्तर्धर्मीय परिषद् एवं मैत्री भवन द्वारा आयोजित 'विश्व धर्म के विविध आयाम' विषयक संगोष्ठी (वाराणसी १५-१६ फरवरी, २०१५) के 'जैनधर्म में शान्ति एवं मैत्रीपूर्ण संवाद' सत्र का आयोजन पार्श्वनाथ विद्यापीठ में १५ फरवरी २०१५ को प्रातः किया गया, जिसमें डॉ० अशोक कुमार सिंह ने अपना वक्तव्य प्रस्तुत किया।

आगामी कार्यशालाएँ :

१. मानविकी में शोध-प्रविधि विषयक पन्द्रह दिवसीय कार्यशाला :

पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा, शोधार्थियों एवं विद्वानों को शोध के क्षेत्र में प्रवीण बनाने एवं विविध शोध-प्रविधियों के ज्ञान से उनके शोध को उत्कृष्ट बनाने के उद्देश्य से ११ से २५ अप्रैल २०१५ तक डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय के निदेशकत्व तथा डॉ. श्रीनेत्र पाण्डेय के संयोजकत्व में एक पन्द्रह दिवसीय कार्यशाला का आयोजन किया जा रहा है। इस कार्यशाला में शोध से सम्बन्धित विभिन्न आयामों यथा- शोध की परिभाषा, प्रकार एवं उद्देश्य, विषय चयन, शोध-पत्र/शोध-प्रबन्ध लेखन, सन्दर्भ प्रविधियाँ, शोध नैतिकता इत्यादि विषयों पर व्याख्यानों द्वारा प्रतिभागियों को प्रशिक्षित किया जायेगा।

२. प्राकृत भाषा एवं साहित्य विषयक पन्द्रह दिवसीय कार्यशाला :

जैन विद्या के क्षेत्र में कार्यरत या कार्य करने के इच्छुक विद्वानों के लिये प्राकृत भाषा का ज्ञान अत्यावश्यक है। इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए पार्श्वनाथ विद्यापीठ, प्राकृत भाषा के प्रशिक्षण हेतु कार्यशालाएँ आयोजित करता रहता है। इसी क्रम में प्राकृत भाषा एवं साहित्य पर पाँचवीं

106 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 1, जनवरी-मार्च 2015

कार्यशाला का आयोजन १५ से २९ मई २०१५ तक डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय के निदेशकत्व तथा डॉ० राहुल कुमार सिंह के संयोजकत्व में किया जा रहा है। इस कार्यशाला में हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के साथ-साथ प्राकृत काव्य एवं कथा साहित्य से सम्बन्धित ग्रन्थों का अध्यापन झीलिंग पद्धति से किया जाएगा। साथ ही अन्य विधाओं पर भी विशिष्ट व्याख्यान होंगे।

जैन जगत्

‘संस्कृत वाङ्मय के विकास में जैन परम्परा का अवदान’

विषयक त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का सफल आयोजन

संस्कृत साहित्य की समृद्धि में जैन परम्परा के बहुमूल्य योगदान के मूल्यांकन हेतु दिल्ली स्थित भोगीलाल लहेरचन्द इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी एवं दिल्ली संस्कृत अकादमी, दिल्ली सरकार के संयुक्त तत्वावधान में विजय वल्लभ स्मारक जैन मन्दिर परिसर में स्थित भोगीलाल लहेरचन्द इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी संस्थान में दिनांक २७ मार्च से २९ मार्च २०१५ तक आयोजित त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी सम्पन्न हुई, जिसमें सम्पूर्ण देश तथा दिल्ली प्रदेश से समागत उच्चकोटि के पचास विद्वानों ने चौदह सत्रों में अपने मौलिक शोध-आलेख प्रस्तुत किये।

राष्ट्रीय संगोष्ठी में जैन आचार्यों एवं विद्वानों द्वारा रचित विशाल संस्कृत जैन वाङ्मय के काव्य, महाकाव्य, छन्द, व्याकरण, कोश, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, अध्यात्म, तत्त्वज्ञान, दर्शन, वास्तु तथा ज्ञान-विज्ञान और कलाओं की विविध विधाओं में उपलब्ध समृद्ध संस्कृत जैन साहित्य के विभिन्न पक्षों पर गम्भीर चर्चाएँ हुईं और सभी विद्वानों ने यह स्वीकार किया कि संस्कृत का जैन साहित्य इतना समृद्ध होते हुए भी अब तक उपेक्षित क्यों है? इसके यथार्थ मूल्यांकन एवं विकास हेतु सरकारी एवं सामाजिक स्तर पर प्रयास होना आवश्यक है।

डॉ० दिलीप धींग आचार्य हस्ती अहिंसा अवार्ड से सम्मानित :

आर०सी० बाफना फाउण्डेशन, जलगाँव (महाराष्ट्र) की ओर से अन्तर्राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन व शोध केन्द्र, चेन्नई के निदेशक साहित्यकार डॉ० दिलीप धींग को ‘आचार्य हस्ती अहिंसा अवार्ड’ से नवाजा गया। १ मार्च २०१५ को अहिंसा तीर्थ में आयोजित समारोह में उद्योगपति मोफतराज

108 : श्रमण, वर्ष 66, अंक 1, जनवरी-मार्च 2015

मुणोत, फाउण्डेशन के संस्थापक अध्यक्ष रतनलाल सी० बाफना, राज्यसभा सांसद ईश्वरलाल ललवाणी, रत्नसंघ के अध्यक्ष ज्ञानेन्द्र बाफना, दलुभाऊ जैन आदि महानुभावों ने उन्हें एक लाख रुपये की सम्मान राशि, स्मृति-चिह्न, प्रशास्ति-पत्र, पगड़ी, शॉल और माला से सम्मानित किया। रतनलाल सी. बाफना ने बताया कि अहिंसा और शाकाहार के क्षेत्र में राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित, १९९१ में स्थापित यह पुरस्कार अब तक २९ व्यक्तियों और ४ संस्थाओं को दिया जा चुका है।

साहित्य-सत्कार

पुस्तक : पूर्व मध्यकाल में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का विकास, लेखक-डॉ० रविशंकर गुप्ता, प्रकाशक- मनीष प्रकाशन, प्लाट नं०-२६, रोहित नगर कालोनी, बी०एच०यू०, वाराणसी-५, प्रथम संस्करण-२०१४, हार्डबाउण्ड, पृ०-३०४, मूल्य-९०० रुपये।

आठ अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ में जैन धर्म के श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विकास को निरूपित किया गया है। क्षेत्रीय दृष्टि से सातवीं से तेरहवीं शती तक हुए विकास के निरूपण को मुख्यता प्रदान की गयी है। इस पुस्तक में लेखक ने यथा स्थान छः मानचित्र तथा चार सारणियाँ प्रस्तुत कर विषय को सुगम बनाने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। मानचित्रों के माध्यम से लेखक ने उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात तथा महाराष्ट्र के श्वेताम्बर जैन तीर्थ स्थलों को रेखांकित किया है तो सारणियों के माध्यम से 'सात निहव, प्रवर्तक, सिद्धान्त का नाम, समय एवं स्थान', 'चौबीस यक्षों का नाम, वाहन, भुजा से आयुध एवं लक्षण', 'चौबीस यक्षियों के नाम, वाहन, भुजा से आयुध एवं लक्षण' तथा चौबीस तीर्थकरों का नाम वर्ण, लांछन सम्बन्धित यक्ष-यक्षी, जन्मस्थल एवं निर्माण स्थल को प्रस्तुत किया है।

प्रथम अध्याय परिचयात्मक है, जो दो भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में जैन धर्म की प्राचीनता पर प्रकाश डालते हुए कालान्तर में हुए विभाजनों की चर्चा है तथा दूसरे भाग में श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों का परिचय है। लेखक ने अंग साहित्य का सामान्य परिचय दिया है जो विषय को समझने में सहायक है। द्वितीय अध्याय में तीर्थकर महावीर के काल (छठी शताब्दी ई०पू०) से हर्षवर्द्धन के काल (छठी-सातवीं शताब्दी ई०) तक श्वेताम्बर परम्परा के विकास का तिथिक्रमानुसार विवरण प्रस्तुत किया गया है। तृतीय अध्याय में पूर्ववर्ती अध्याय के विषय को आगे बढ़ाते हुए पूर्व मध्यकाल (तेरहवीं शताब्दी ई०) के

अन्त तक श्वेताम्बर परम्परा के विकास को दर्शाया गया है। यह अध्याय भी दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में पूर्व एवं पूर्वोत्तर भारत में तथा द्वितीय भाग में पश्चिम एवं पश्चिमोत्तर भारत में श्वेताम्बर परम्परा के क्रमशः विस्तार को बताया गया है। चतुर्थ अध्याय श्वेताम्बर परम्परा के पवित्र तीर्थस्थलों से सम्बन्धित है। लेखक ने तीर्थों की जैन अवधारणा को प्रस्तुत करते हुए सभी महत्त्वपूर्ण तीर्थों का परिचय दिया है। इस सन्दर्भ में लेखक ने अभिलेखों का भी सहारा लिया है जो उसकी प्रामाणिकता को और पुष्ट करता है। पञ्चम अध्याय में श्वेताम्बर परम्परा के महान आचार्यों द्वारा शिक्षा में उनके योगदान को दर्शाया गया है। शिक्षा ही मनुष्य को इस योग्य बनाती है कि वह मोक्षरूपी अमृत का पान कर सके। इसी अध्याय में शिक्षक-शिक्षार्थी के पारस्परिक सम्बन्धों, शिक्षण-विधि एवं कुछ प्रसिद्ध आचार्यों के जीवन-वृत्त एवं उनके कृतित्व का विवरण भी है। षष्ठ अध्याय कला एवं स्थापत्य कला से सम्बन्धित है। इस अध्याय में जैन कला की विशेषताओं को प्रदर्शित करते हुए उनके प्रसिद्ध मन्दिरों का विवरण दिया गया है। सप्तम अध्याय श्वेताम्बर परम्परा के उन शाश्वत मूल्यों से सम्बन्धित है जिनके लिए वह प्रख्यात रहा है। यहाँ धर्म की भारतीय व्याख्या प्रस्तुत की गयी है तथा इसी प्रसंग में धार्मिक साहिष्णुता पर प्रकाश डाला गया है। अष्टम अध्याय उपसंहार है जिसमें पुस्तक के सार को प्रस्तुत किया गया है। अन्त में बहुउपयोगी सन्दर्भ सूची एवं शब्दानुक्रमणिका भी दी गयी है।

इसप्रकार श्वेताम्बर जैन संप्रदाय के विकास की ऐतिहासिक महत्ता को ध्यानगत रखते हुए इस पर ग्रन्थ प्रणयन के लिए डॉ० गुप्ता साधुवाद के पात्र हैं। यह आशा की जाती है कि उनका यह प्रयास अनेक विद्यार्थियों एवं शोधार्थियों को मार्गदर्शन प्रदान करेगा।

डॉ० राहुल कुमार सिंह

रिसर्च-एसोसिएट, पार्श्वनाथ विद्यापीठ,
वाराणसी

- | | |
|---|----------------------|
| 1. Prakrit - Hindi Kośa
Edited by Dr. K.R. Chandra | ₹ 1200.00 |
| 2. Encyclopaedia of Jaina Studies
Vol. I (Art & Architecture) | ₹ 4000.00, \$ 100.00 |
| 3. Jaina Kumāra Sambhavam
Dr. Neelam Rani Shrivastava | ₹ 300.00 |
| 4. Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I - Vol. VII, | ₹ 1430.00 |
| 5. Hindi Jaina Sāhitya Kā Bṛhad Itihāsa, Vol. I - Vol. III
Dr. Shitikanth Mishra | ₹ 1270.00 |
| 6. Jaina Pratimā Vijñāna
Prof. M.N.P. Tiwari | ₹ 300.00 |
| 7. Jaina Dharma Darśana
Dr. Mohanlal Mehta | ₹ 200.00 |
| 8. Sthānakavāsi Jaina Paramparā Kā Itihāsa
Dr. S. M. Jain & Dr. Vijaya Kumar | ₹ 500.00 |
| 9. Studies in Jaina Philosophy
Dr. Nathmal Tatia | ₹ 200.00 |
| 10. Theory of Reality in Jaina Philosophy
Dr. J. C. Sikdar | ₹ 300.00 |
| 11. Doctrine of Karma in Jaina Philosophy
H.V. Glasenapp | ₹ 150.00 |
| 12. Jainism: The Oldest Living Religion
Dr. Jyoti Prasad Jain | ₹ 40.00 |
| 13. Scientific Contents in Prakrit Canons
Dr. N. L. Jain | ₹ 400.00 |
| 14. Pearls of Jaina Wisdom
Editors: Dr. S. M. Jain & Dr. S. P. Pandey | ₹ 120.00 |
| 15. Studies in Jaina Art
Dr. U.P. Shah | ₹ 300.00 |
| 16. Dr. C. Krause: Her Life and Literature Vol. I
Editor: Dr. S. P. Pandey | ₹ 500, \$ 40-00 |
| 17. Jainism in a Global Perspective
Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey | ₹ 400.00, \$ 19.00 |
| 18. Multi-dimensional Application of Anekāntavāda
Editors: Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey | ₹ 500.00, \$ 20.00 |
| 19. Advanced Glossary of Jaina Terms
Dr. N. L. Jain | ₹ 300.00 |
| 20. Uttarādhyayana-Sūtra: Eka Parīśilāna (Gujrati)
Dr. S. L. Jain & Trans. A. Santilal Joshi | ₹ 300.00 |
| 21. Jains Today in the World
Pierre Paul Amiel | ₹ 500.00 |
| 22. Kaṣāyapāhuḍa (Chapters on Passion)
Dr. N. L. Jain | ₹ 300.00 |
| 23. Jaina Karmagrantha Part -I-V (Pt. Sukhlal Sanghvi) | ₹ 400.00 |